पुस्तक विवरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित ३० वें दिन यह पुस्तक पुस्तकालय में वापस आ जानी चाहिए अन्यथा ५० पैसे प्रति दिन के हिसाब से विलम्ब दण्ड लगेगा।

पुस्तक-वितरण की तिथि नीचे अंकित है। इस तिथि सहित १५वें दिन तक यह पुस्तक पुस्तकालय में वापिस आ जानी चाहिए। अन्यथा ५ पैसे प्रतिदिन के हिसाब से विलम्ब-दण्ड लगेगा।

6 DEC 1982	9 FEB 1983
10 JAN 1983	4 JAN 1997
9 MAR 1983	
11 APR 1983	

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

* ओ३म् *

पातञ्जल योग
और
श्री अरविन्द की योग-पद्धति

श्री स्वामी ओमानन्द

फ़र्वरी १९४५ ई० मूल्य ॥।)

प्रकाशक:—
मंत्री—पातञ्जल योग प्रकाशन-
प्रबन्ध-परिषद्
मोहन आश्रम हरिद्वार

मुद्रक:—
विश्वम्भर सहाय प्रेमी
प्रेमी प्रिन्टिङ्ग प्रेस मेरठ

* ओ३म् *

पातञ्जल योग और श्री अरविन्द की योग पद्धति

२४ नवम्बर सन् १९४३ के 'अदिति' पत्र में जो श्री अरविन्द निकेतन नई देहली से निकलता है, श्रीमान् आचार्य स्वामी अभयदेव जी का एक लेख "श्री अरविन्द की योग पद्धति और पातञ्जल योग" शीर्षक से निकला था। उस लेख को दो भागों में विभक्त किया गया है। पहिले भाग में श्री अरविन्द के योग-पद्धति की पातञ्जल योग के साथ सादृश्यता दिखलाकर श्री अरविन्द की योग-पद्धति का गौरव दिखलाया है और दूसरे भाग में विसदृशता दिखलाते हुये पातञ्जल योग में न्यूनता बतलाकर उसको संकीर्ण, अपूर्ण और "श्री अरविन्द की योग-पद्धति" की विशेषतायें बतलाकर उसको विशाल और पूर्ण सिद्ध करने का यत्न किया गया है।

बहुत से सज्जनों ने उससे फैली हुई भ्रान्ति को हटाने के लिये पातञ्जल योग पर अधिक प्रकाश डालने का आग्रह किया था। किन्तु इसको अपने कार्यक्षेत्र की सीमा से परे जानकर मैं चाहता था कि कोई अन्य विद्वान व्यक्ति इस कार्य को अपने हाथ

में ले। परन्तु अब फिर कई प्रतिष्ठित सज्जनों और मित्रों के विशेष आग्रह से इस विषय में अपने विचारों को प्रगट कर देना आवश्यक ही समझा।

इस निबन्ध को भी दो भागों में विभक्त करके पहिले भाग में पातञ्जल योग के उन सिद्धान्तों का अलग २ प्रकरण में वर्णन किया जायेगा और उनका वास्तविक स्वरूप दिखलाने का यत्न किया जायगा जिनका 'अदिति'' के पहिले भाग में वर्णन किया गया है। और दूसरे भाग में उन समस्त आक्षेपों का जो उसके दूसरे भाग में पातञ्जल योग पर किये गये हैं उत्तर दिया जायगा। आक्षेपों को पूर्वपक्ष में और उनके उत्तरों को उत्तर पक्ष में रखा जावेगा।

प्रथम भाग

पातञ्जल योग का पूर्ण और विशाल स्वरूप

पातञ्जल योग दर्शन की आधार शिला हिरण्य गर्भ सूत्र हैं जैसा कि उसके प्रथम सूत्र 'अथ योगानुशासनम्' में अनुशासन शब्द से बतलाया गया है। इसमें योग के सारे मार्गों का उनकी पूर्ण विधि के साथ सूत्र रूप में समावेश किया गया है। योग के विषय में यही एक सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। किसी योग मार्ग की जिन अंशों में इसके साथ सदृशता और समानता है, उन अंशों में इसको सार्थक और सच्चा समझना चाहिए। इससे

भिन्नता की प्रतीति उसकी न्यूनता की सूचक है, और इससे विसदृशता दिखलाना उसकी अपूर्णता को सिद्ध करना है। हमारे इस लेख का उद्देश्य किसी विशेष मार्ग पर किसी प्रकार की समालोचना किए विना पातञ्जल योग के यथार्थ विशाल और व्यापक स्वरूप को दिखलाना है, जिससे उसके समझने में किसी को किसी प्रकार का भ्रम न हो सके।

पहला प्रकरण

सांख्य और योग

दो अनादि तत्त्व—कपिल मुनि और पतञ्जलि मुनि प्रणीत सांख्य और योग शास्त्र में चेतन और जड़ दो अनादि तत्त्व माने गये हैं। पुरुष अर्थात् चेतन तत्त्व ज्ञान स्वरूप, निष्क्रिय कूटस्थ नित्य है। और जड़ तत्त्व (सत्व, रजस् तमस्) त्रिगुणात्मिक सक्रिय परिणामी नित्य है। सत्व—प्रकाश, हलका, सुख, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म स्वभाव वाला है। तमस् भारी, अन्धकार, मोह, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, और अधर्म स्वभाव वाला है। रजस्— क्रिया, गति, चंचलता और दुःख स्वभाव वाला है। इन तीनों के स्वरूप अर्थात् साम्य परिणाम की अवस्था का ही नाम मूल प्रकृति है। जो केवल अनुमान और आगम गम्य है। चेतन तत्त्व की सन्निधि से इस जड़ तत्त्व में एक प्रकार का विरूप अर्थात् विषम परिणाम हो रहा है।

अवरोहण क्रम (Descent)

(१) महत्तत्त्व—पहिला विषम परिणाम महत्तत्त्व है। जो सत्व में रजस का क्रिया मात्र और तमस का उस क्रिया को रोकना मात्र है यह महत्तत्त्व सत्व की विशुद्धता से समष्टि रूप में विशुद्ध सत्वमय चित्त कहलाता है, जिसमें समष्टि अहंकार बीज रूप से रहता है, जो ईश्वर का चित्त है और अपने व्यष्टि रूप में सत्व चित्त कहलाता है जो अनन्त हैं। इन अनन्त सत्व चित्तों में व्यष्टि अहंकार बीज रूप से रहते हैं। ये जीवों के चित्त कहलाते हैं। चेतन तत्त्व में अपने ज्ञान के प्रकाश डालने की और महत्तत्त्व में इस ज्ञान के प्रकाश को लेने की अनादि योग्यता चली आ रही है। उदाहरण थोड़े ही अंशों में घटा करता है, किन्तु चेतन तत्त्व और महत्तत्त्व जैसी कोई भी वस्तु भौतिक संसार में उदाहरण देने के लिए नहीं मिल सकती। इसलिए पारिभाषिक उदाहरणों से इन दोनों तत्त्वों की सन्निधि बतलाने के विषय को समझ लेना चाहिए। इनके लौकिक अर्थों पर न जाना चाहिए।

योग का उदाहरण—जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब अनन्त जलाशयों में पड़ रहा है, इसी प्रकार चेतन तत्त्व के ज्ञान का प्रकाश समष्टि विशुद्ध सत्वमय चित्त में तथा व्यष्टि सत्व चित्तों में पड़ रहा है। यथा—

"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जल चन्द्रवत्॥"

यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वान् अपोभिन्ना बहुधैकोऽनु-
गच्छन्।
उपाधिना क्रियते भेद रूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽव्ययमात्मा॥

अर्थ—एक ही भूत आत्मा भूत भूत में विराज रहा है जिस प्रकार एक ही चन्द्रमा जल में अनेक होकर दीखता है, उसी प्रकार वह आत्मा (चेतन तत्त्व) भी अनेक रूप में प्रतीत हो रहा है।

जिस प्रकार ज्योतिः स्वरूप सूर्य एक होता हुआ भी भिन्न भिन्न जलाशयों में अनेक होकर दिखाई देता है यह भेद उसका केवल औपाधि के कारण है उसी प्रकार अनादि परमात्म देव (चेतन तत्त्व) क्षेत्र भेद से अनेक रूप में दिखाई दे रहा है।

सांख्य का उदाहरण—जिस प्रकार चुम्बक की सन्निधि से लोहे में क्रिया होती है, इसी प्रकार चेतन तत्त्व की सन्निधि से समष्टि तथा व्यष्टि चित्तों में ज्ञान नियम और व्यवस्था पूर्वक क्रिया हो रही है। यथा—

"निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते।
सत्ता मात्रेण देवेन तथाचायं जगज्जनः॥

अत आत्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।
निरिच्छत्वाद कर्ताऽसौ कर्ता सन्निधि मात्रतः ॥"

अर्थ—जैसे बिना इच्छा वाले चुम्बक के स्थित रहने मात्र में लोहा (आप से आप) गतिशील होता है वैसे ही सत्तामात्र देव (चेतन तत्त्व) से जगत की उत्पत्ति आदि होती है। इस कारण परमात्मा (चेतन तत्त्व) में कर्तृत्व और अकर्तृत्व भी अच्छी प्रकार सिद्ध है। वह निरिच्छ होने से अकर्ता और सामीप्यमात्र से कर्ता है।

उपनिषदों का उदाहरण—जिस प्रकार वायु सारे भुवनों में व्यापक हो रहा है वैसे ही चेतन तत्त्व समष्टि तथा व्यष्टि चित्तों में व्यापक हो रहा है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव ।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥
वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो वभूव ।
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो वहिश्च ॥

जैसे एक ही अग्नि तत्त्व सारे भुवन में प्रविष्ट होकर प्रतिरूप हो रहा है, इसी प्रकार एक आत्मा (चेतन तत्त्व) जो सब भूतों के भीतर है रूप रूप में प्रतिरूप हो रहा है। जैसे एक ही वायु तत्त्व सारे भुवन में प्रविष्ट होकर रूप रूप में प्रतिरूप

हो रहा है, इसी प्रकार एक आत्मा जो सब भूतों के भीतर है रूप रूप में प्रतिरूप हो रहा है और बाहर भी है।

पुरुष से प्रतिबिम्बित समष्टिचित्त, समष्टि अस्मिता और व्यष्टिचित्त, व्यष्टि अस्मिता कहलाते हैं। पुरुष निष्क्रिय होते हुए भी अपने चित्त का द्रष्टा है। अर्थात् चित्त में उसके ज्ञान के प्रकाश में जो कुछ भी हो रहा है वह उसे स्वयं ज्ञात रहता है। व्यष्टि चित्तों के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व का नाम जीव है। जो संख्या में अनन्त और अल्पज्ञ है। समष्टि चित्त के सम्बन्ध से चेतन तत्त्व का नाम ईश्वर, अपरब्रह्म, सगुण ब्रह्म और शबल ब्रह्म है जो एक सर्व व्यापक सर्व शक्तिमान और सर्वज्ञ है। अपने शुद्ध स्वरूप से चेतन तत्त्व का नाम परमात्मा निर्गुण ब्रह्म, परब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म है। पुरुष शब्द का प्रयोग जीव, ईश्वर और परमात्मा तीनों अर्थों में होता है*। किस प्रकरण में पुरुष

पुरुष शब्द का प्रयोग जीव अर्थ में:—

"स य एषोऽन्तर्हृदयाकाशः।
तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः॥

अर्थ—यह जो हृदय के अन्दर आकाश है उसमें वह पुरुष है जो मन का मालिक अमृत और ज्योतिर्मय है।

पुरुष शब्द का ईश्वर अर्थ में प्रयोग—

"सहस्र शीर्षः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठ दशाङ्गुलम्॥"

शब्द का प्रयोग किया गया है, इसका ठीक २ विवेक न रखने के कारण बहुधा विद्वान् सांख्य और योग के वास्तविक स्वरूप के समझने में धोखा खाते हैं।

(२) महत्तत्त्व का विषम परिणाम अहंकार– पुरुष (चेतन तत्त्व) से प्रतिबिम्बित महत्तत्त्व ही सत्व में रज, तम की अधिकता से विकृत होकर अहंकार रूप से व्यक्त भाव में बहिर्मुख हो रहा है। यह अहंकार ही अहंभाव से एकत्व बहुत्व व्यष्टि, समष्टि रूप सर्व प्रकार की भिन्नता उत्पन्न करने वाला है। विभाजक अहंकार ही से ग्राह्य और ग्रहणरूप दो प्रकार के विषम परिणाम हो रहे हैं।

अर्थ—वह पुरुष हज़ारों सिर हज़ारों नेत्र और हज़ारों पांओं वाला है। वह इस ब्रह्माण्ड को चारों ओर से घेर कर भी दश अंगल इससे परे (अपने शुद्ध स्वरूप में) खड़ा है।

पुरुष शब्द परमात्मा (शुद्ध चेतन तत्त्व) के अर्थ में—

एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पुरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥

अर्थ—यह इतनी बड़ी तो उसकी महिमा है पुरुष (परमात्मा = चेतन तत्त्व) इससे कहीं बड़ा है सारे भूत इसका एक पाद हैं इसके तीन पाद अमृत स्वरूप अपने प्रकाश (शुद्ध स्वरूप) में हैं।

(३) अहंकार का विषम परिणाम ग्राह्य रूप पांच तन्मात्रायें—विभाजक अहंकार ही सत्व में रज तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली ग्राह्य रूप शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, तन्मात्राओं के रूप में व्यक्त भाव से बहिर्मुख हो रहा है।

(४) अहङ्कार का विषम परिणाम ग्रहण रूप एकादश इन्द्रियें— वही अहंकार सत्व में रज और तम की कुछ विशेषता के साथ अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाली पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां और ग्यारहवां इन के नियन्ता मन के रूप में व्यक्त होकर बहिर्मुख हो रहा है।

(५) तन्मात्राओं के विषम परिणाम ग्राह्य रूप पांच स्थूल भूत—अहंकार से व्याप्य पांचों तन्मात्रायें ही सत्व में रज और तम की अधिकता से विकृत होकर परस्पर भेद वाले आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी पांचों स्थूल भूतों में व्यक्त भाव से बहिर्मुख हो रही हैं।

इस प्रकार बहिर्मुखता (अवरोहण Descent) में महत्तत्त्व की अपेक्षा अहंकार में अहंकार की अपेक्षा पांचों तन्मात्राओं और ग्यारह इन्द्रियों में और तन्मात्राओं की अपेक्षा, पांचों स्थूल भूतों

में क्रमशः रज और तम की मात्रा बढ़ती जाती है, और सत्त्व की मात्रा कम होती जाती है। यहां तक कि जगत और स्थूल शरीर में रज तथा तम का ही व्यवहार चल रहा है। सत्त्व केवल प्रकाश मात्र ही रह रहा है। महत्तत्त्व में प्रतिबिम्बित चेतन तत्त्व भी उपरोक्त राजसी और तामसी आवरणों में आच्छादित होकर स्थूल शरीर और भौतिक जगत में केवल झलक मात्र ही दिखाई दे रहा है।

आरोहण क्रम (Ascent) इस से उलटे आरोह क्रम में जितनी अन्तर्मुखता बढ़ती जावेगी उतना ही रज और तम का विक्षेप तथा मल हट कर सत्त्व का प्रकाश बढ़ता जावेगा। और प्रकाश में चैतन्य की (आत्म स्पर्शता की) अधिक स्पष्टता से प्रतीति बढ़ती जावेगी।

(१) इस आरोह Ascent क्रम में सब से पहिली अवस्था वितर्कानुगत संप्रज्ञात समाधि है। जिस में रज और तम के दबने पर सत्त्व के प्रकाश में स्थूल भूतों और उनके व्यवहारों के वास्तविक स्वरूप का साक्षात्कार होता है।

(२) दूसरी अवस्था विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है। इसमें रज और तम के अधिक दबने पर सत्त्व के अधिक प्रकाश में पांचों स्थूलभूतों के कारण पाँचों सूक्ष्म भूतों को उनकी सूक्ष्मता के तारतम्य से पांचों तन्मात्राओं तक का साक्षात् कार होता है।

इसके सूक्ष्मता के तारतम्य के अनुसार ही सारे दिव्य लोकों के आनन्द का सौ २ गुना अधिकता के साथ उपनिषदों में वर्णन किया गया है।

(३) तीसरी अवस्था आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि है, जिसमें तन्मात्राओं के रज और तम के दब जाने पर सत्त्व के प्रकाश बढ़ने पर उनके कारण अहंकार का 'अहमस्मि' वृत्ति से साक्षात्कार होता है। इस सत्त्व के आनन्द और प्रकाश में चेतन तत्त्व की इतनी स्पष्टता से प्रतीति होती है कि कुछ योगी इसी अवस्था को आत्मस्थिति समझकर सब दिव्य लोकों से परे होकर उन के काल की अवधि से अधिक समय तक कैवल्य जैसे आनंद को भोगते रहते हैं। ये विदेह कहलाते हैं।

(४) चौथी अवस्था अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात-समाधि की है, जिसमें अहंकार के रज और तम के दब जाने पर सत्त्व के प्रकाश में उसके कारण चित्त का साक्षात्कार 'अस्मि' वृत्ति से होता है। इस सत्त्व के प्रकाश में चित्त में प्रतिबिम्बित चैतन्य (आत्म स्पर्श) की इतनी स्पष्टता से प्रतीति होती है कि कई योगी इसी अवस्था को आत्म स्थिति समझ कर दिव्य लोकों से भी अधिक अवधि तक कैवल्य जैसे आनन्द को भोगते रहते हैं। ये प्रकृति लय कहलाते हैं।

विवेक ख्याति अस्मितानुगत: सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था में चित्त से अलग आत्मा को निष्क्रय ज्ञान स्वरूप कूटस्थ नित्य साक्षात् करना विवेक ख्याति कहलाती है। किन्तु विवेक ख्याति भी चित्त की एक सात्विक वृत्ति है। जिस प्रकार दर्पण (शीशे) में दिखलाई देने वाला स्वरूप वास्तविक स्वरूप नहीं होता है इसी प्रकार चित्त में आत्मा का साक्षात्कार स्वरूप अवस्थिति नहीं है। चित्त ही की एक सबसे उच्चतम सात्विक वृत्ति है। इसलिये जब इस वृत्ति को भी "नेति नेति" "यह आत्मस्थिति नहीं है, यह स्वरूप अवस्थिति नहीं है" रूप पर वैराग्य द्वारा हटा दिया जावे, तब स्वरूप अवस्थिति रूप असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ प्राप्त होता है। इस असम्प्रज्ञात समाधि में संस्कार शेष अर्थात् निरोध के ही संस्कार रहते हैं।

ज्यों २ असम्प्रज्ञात समाधि का अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों २ निरोध के संस्कार बलवान होते जाते हैं और व्युत्थान के संस्कार दुर्बल। यदि यह क्रम बराबर चलता रहे तो एक समय ऐसा आ जायगा जब निरोध के संस्कार व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर देंगे। तब जिस प्रकार सीसा सुवर्ण के सारे मल को जलाकर अन्त में स्वयं भी जल जाता है, इसी प्रकार यह विरोध के संस्कार भी व्युत्थान के सारे संस्कारों को नष्ट कर के अन्त में स्वयं भी नष्ट हो जावेंगे तब कैवल्य रूप स्वरूप अवस्थिति होगी।

अर्थात् द्रष्टा शुद्ध चैतन्य परमात्मा स्वरूप में अवस्थित होगा और चित्त को बनाने वाले गुण उस पुरुष के प्रति भोग और अपवर्ग का प्रयोजन पूरा करके उसके प्रति कोई कर्तव्य शेष न रहने पर अपने कारण में लीन हो जावेंगे। यहां यह भी बता देना आवश्यक है कि स्वरूप अवस्थिति में पहुंच कर भी जा योगी सब प्राणियों के कल्याण का संकल्प (संसार को दिव्य बनाना) अपने चित्त में बनाए रखते हैं, इनके चित्तों के बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन नहीं होते। बल्कि यह चित्त अपने विशाल शुद्ध स्वरूप से ईश्वर के विशुद्ध सत्त्व मय चित्त में जिसमें वेदों का ज्ञान और सारे प्राणियों के कल्याण का संकल्प विद्यमान है (समान संकल्प होने से) लीन रहते हैं और वे शुद्ध चैतन्य परमात्म स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण में जब उनकी आवश्यकता होती है तो वे अपने शुद्ध स्वरूप से इस भौतिक जगत् में अवतीर्ण होते हैं। दूसरे शब्दों में अवतार लेते हैं। यथा—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

हे भारत ! जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। (अपने शुद्ध स्वरूप से शबल स्वरूप में ईश्वर की ओर से अवतरण करता है। अर्थात् भौतिक जगत में अवतार लेता है) सज्जनों की रक्षा करने के लिए और दूषित कार्य करने वालों का नाश करने के लिये तथा धर्म-स्थापना करने के लिये युग युग में प्रकट होता हूँ।

तथा—

आदि विद्वान् निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षि रासुरये जिज्ञासमानाय तन्मं प्रोवाच।

आदि विद्वान् भगवान् परम ऋषि (कपिल) ने निर्माण चित्त (सांसारिक सँस्कारों से शून्य) के अधिष्ठाता हो कर जिज्ञासा करते हुए आसुरी को दया भाव से सांख्यतत्त्व समास का उपदेश दिया। तथा—

ऋषि प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभति।

अर्थ–जो पहिले उत्पन्न हुए कपिल मुनि को ज्ञान से भर देता है।

दूसरा प्रकरण

उपनिषदों के अनुसार अवरोह आरोह क्रम

उपनिषदों में इस उपर्युक्त अवरोह आरोह क्रम को कोशों द्वारा बताया है।

कोश, खोल अथवा म्यान को कहते हैं। ये पांच हैं— आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय। इन पांचों कोशों को पांच रंग वाली चिमनियां समझनी चाहियें। और शुद्ध चेतन (आत्मतत्त्व) को एक प्रकाश की ज्योति, जिस का प्रकाश भिन्न २ रंग वाली चिमनियों में से होकर बाहर आता हुआ उनके रंगों जैसा प्रतीत होता है।

अवरोह क्रम (Descent) (१) आनन्दमय कोश-शुद्ध चेतन तत्त्व (आत्म तत्त्व) पर चित्त (महत्तत्त्व) और कारण प्रकृति की पहली चिमनी है। इसको आनन्दमय कोश कहते हैं। आनन्द का विकार रूपी यह कोश आत्म स्वरूप को आच्छादित कर के (ढक कर) प्रिय, मोद, प्रमोद रहित आत्मा को प्रिय मोद प्रमोद वाला तथा अपरिच्छिन्न सुख रहित आत्मा को परिच्छिन्न सुख विशिष्ट रूप में प्रकट करता है। यह आनन्दमय कोश रूप अज्ञान का आवरण ही जीव का कारण शरीर कहलाता है। इस कारण शरीर सहित आत्मा को 'प्राज्ञ' कहते हैं।

(२). विज्ञानमय कोश—इस आनन्दमय कोश रूपी चिमनी के ऊपर दूसरी चिमनी अहंकार और बुद्धि की है। इस को विज्ञानमय कोश कहते हैं। यह विज्ञानमय कोश आत्म स्वरूप को आच्छादित करके अकर्ता आत्मा को कर्ता, अविज्ञाता आत्मा

को विज्ञाता, निश्चय रहित आत्मा को निश्चय युक्त और जातीय अभिमान रहित आत्मा को जाति अभिमान युक्त जैसा प्रकट करता है। इस विज्ञानमय कोश में अभिमान वर्तमान रहता है। कर्तृत्व, भोक्तृत्व सुखित्व आदि अभिमान ही इस विज्ञान मय कोश का गुण है।

(३) मनोमय कोश— इस विज्ञान मय कोश रूपी चिमनी पर तीसरी मन ज्ञानेन्द्रियों और तन्मात्राओं की रंग वाली चिमनी चढ़ी हुई है, जिसको मनोमय कोश कहते हैं। मन और ज्ञानेन्द्रियों का विकार रूपी यह कोश आत्मस्वरूप को आच्छादित करके संशय रहित आत्मा को संशय युक्त, शोक मोह रहित आत्मा को शोक मोह युक्त और दर्शन रहित आत्मा को दर्शन आदि का कर्ता रूप प्रकट करता है। इस मनोमय कोश में इच्छा शक्ति वर्तमान रहती है।

(४) प्राणमय कोश— मनोमय कोश रूपी चिमनी पर चौथी चिमनी पांच कर्मेन्द्रियों और पांच प्राणों की चढ़ी हुई है। जिसको प्राणमय कोश कहते हैं। प्राण और कर्मेन्द्रियों का विकार रूपी यह प्राणमय कोश आत्मा को आच्छादित (ढक कर) करके वक्तृत्व रहित आत्मा को वक्ता, दातृत्व रहित आत्मा को दाता, गति रहित आत्मा को गति शील, क्षुधा पिपासा रहित आत्मा को क्षुधा पिपासा युक्त आदि नाना प्रकार के विकारों से

युक्त जैसा प्रकट करता है। इस प्राणमय कोश में क्रिया शक्ति वर्तमान होने से यह कार्य रूप होता है।

यह तीनों विज्ञानमय, मनोमय और प्राणमय कोश मिल कर सूक्ष्म शरीर कहलाते हैं। इस सूक्ष्म शरीर सहित आत्मा का नाम तैजस है।

(५) अन्नमय कोश— चौथी प्राणमय कोश रूपी चिमनी पर पांचवी स्थूल शरीर रूपी चिमनी है। जो अन्नमय कोश कहलाता है। यह अन्न से बने हुए रज वीर्य से उत्पन्न होता है। और अन्न से ही बढ़ता है। इस लिये इस को अन्नमय कहते हैं। इस अन्नमय कोश के कारण अपरिच्छिन्न, अविभक्त आत्मा परिच्छिन्न तथा विभक्त और ताप रहित आत्मा तापयुक्त, अजर, अमर अजन्मा आत्मा मृत्यु जरा और जन्म से युक्त जैसा प्रतीत होता है। इस अन्नमय कोश को ही स्थूल शरीर कहते हैं। और स्थूल शरीर सहित आत्मा को विश्व कहते हैं।

आरोह क्रम (Ascent)— उपर्युक्त अवरोह क्रम से उलटा आरोह क्रम उपनिषदों में इस प्रकार बतलाया है—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि।

(कठ० ३। १३)

अर्थ—बुद्धिमान् वाणी को (सब ज्ञानेन्द्रियों को) मन में

लय करे। उसको (मन को) ज्ञान आत्मा (बुद्धि) में लय करे। बुद्धि को महान् आत्मा (महत्तत्त्व) में लय करे, और उस महत्तत्त्व को शान्त आत्मा में लय करे। यह इस प्रकार है।

(१) किसी भी सुखासन पूर्वक स्थिर बैठकर अन्नमय कोश में आत्म अध्यास छोड़ कर प्राणमय कोश में प्रवेश करना।

(२) प्राणों की गति को रोक कर अथवा धीमा करके इन्द्रियों को अन्तर्मुख करके प्राणमय कोश से आत्म अध्यास हटा कर मनोमय कोश में प्रवेश करना।

(३) मनोमय कोश से आत्म अध्यास हटा कर विज्ञानमय कोश में जाना।

(४) विज्ञानमय कोश से आत्माध्यास हटा कर आनन्द मय कोश में स्थित होना।

ये चारों सम्प्रज्ञात समाधि के ही भेद हैं, क्योंकि जब आनन्द मय कोश भी विजय कर लिया जाय, तब शुद्ध चैतन्य आत्म स्वरूप में अवस्थिति होती है।

अन्नमय कोश से आत्म अध्यास हटाना अथवा उसका विजय आसन और प्राणायाम की सिद्धि से (२४६, ४९) प्राणायाम कोश का प्रत्याहार और धारणा की सिद्धि से (२/५४, ३/१) मनोमय कोश का वितर्क अनुगत और विचार अनुगत द्वारा (१/१७), विज्ञान मय कोश का विचारानुगत और उस की ऊंची अवस्था

आनन्दानुगत समापत्ति से (१/१७) और आनन्द मय कोश का विजय अस्मितां अनुगत (१/१७) और उसकी सब ऊंची अवस्था विवेक ख्याति (२/२६) से होता है। तत्पश्चात् शुद्ध चैतन्य आत्म स्वरूप में अवस्थिति होती है। (शेष सांख्य योग के प्रकरण में देखें)

तीसरा प्रकरण

पांच क्लेश और अष्टाङ्गयोग

बहिर्मुखता अर्थात् सारे बन्धनों के कारण पाँच क्लेश

योग और सांख्य सिद्धांतों के अनुसार सारे बन्धनों के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, ये पांच क्लेश और सकामकर्म हैं।

(१) अविद्या—अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुख में सुख और अनात्मा में आत्मा का ज्ञान अविद्या है। अर्थात् जिस में जो धर्म नहीं है उसका उससे भान होना अविद्या का सामान्य लक्षण है। इस अविद्या के कारण सब से प्रथम जड़, चित्त, और चेतन आत्मा में विवेक जाता रहता है। तब जड़ चित्त में आत्मा का भाव आरोप हो जाने से उस में और आत्मा में अभिन्नता प्रकट होने लगती है। इस से अस्मिता क्लेश उत्पन्न होता है।

(२) अस्मिता—दृक् शक्ति (पुरुष) और दर्शन शक्ति (चित्त) का एक जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है। पुरुष द्रष्टा है। चित्त

दिखलाने वाला उसका एक कारण है। पुरुष चैतन्य है चित्त जड़ है। पुरुष क्रिया रहित है। चित्त प्रसव धर्मी अर्थात् क्रिया वाला है। पुरुष निर्गुण और केवल है। चित्त त्रिगुण मय है। पुरुष अपरिणामी और चित्त परिणाम शील है। पुरुष स्वामी और चित्त उसकी (स्व) मिलकियत है। इस प्रकार यह दोनों अत्यन्त भिन्न हैं पर अविद्या के कारण दोनों में अभेद की प्रतीति जाती रहती है। इस प्रकार पुरुष और चित्त में अविद्या के कारण एक जैसा भान होना अस्मिता क्लेश है। इसी को हृदय ग्रन्थि भी कहते हैं। यही असंग पुरुष और चित्त का परस्पर अध्यारोप है। इस अध्यारोप से आत्मा में बन्धन का आरोप होता है। इस अस्मिता क्लेश के कारण मन, इन्द्रिय और शरीर में आत्मभाव अर्थात् ममता और अहंता पैदा हो जाती है और उनको सुख पहुंचाने वाले विषयों और वस्तुओं में राग उत्पन्न हो जाता है।

(३) राग— सुख के पीछे जो चित्त में उस के भोग की इच्छा रहती है वह राग है। अर्थात् शरीर इन्द्रियों और मन में आत्म अध्यास हो जाने पर जिन वस्तुओं और विषयों से उन में सुख प्रतीत होता है, उनमें और उनके प्राप्त करने के साधनों में जो इच्छा रूपी तृष्णा और लोभ पैदा हो जाता है, उस के जो संस्कार चित्त में पड़ जाते हैं, उस का नाम राग क्लेश है। यह राग ही द्वेष का कारण है क्योंकि चित्त में राग के संस्कार जम जाने पर जिन वस्तुओं से शरीर इन्द्रियों और मन में दुःख प्रतीत

हो, अथवा जिनसे सुख के साधनों में विघ्न पड़े, उनसे द्वेष होने लगता है।

(४) द्वेष—दुःख के अनुभव के पीछे जो घृणा की वासना चित्त में रहती है, उसको द्वेष कहते हैं। अर्थात् जिन वस्तुओं अथवा जिन साधनों से दुःख प्रतीत हो, उन से जो घृणा और क्रोध हो, उनके जो संस्कार चित्त में पड़ें, उसको द्वेष क्लेश कहते हैं। द्वेश क्लेश ही अर्थात् शरीर इन्द्रियों आदि को दुःख से बचाने के संस्कार ही अभिनिवेश का कारण हैं।

(५) अभिनिवेश–के अर्थ हैं 'मान भूवं भूयासमिति' ऐसा न हो कि मैं न होऊं किंतु मैं बना रहूँ। "शरीरविषयादिभिर्मम वियोगो-मा भूदिति" 'शरीर और विषयादियों से मेरा वियोग न हो।' आत्मा अजर अमर है, फिर भी राग द्वेष के कारण शरीर में आत्म अध्यास हो जाता है और मूर्ख से लेकर चतुर मनुष्य तक अपने वास्तविक आत्म स्वरूप को भूल कर भौतिक शरीर की रक्षा में ही लगे रहते हैं। और उसके नाश से घबराते हैं। इस मृत्यु के भय के जो संस्कार चित्त में पड़ते हैं उनको अभिनिवेश-क्लेश कहते हैं। यह अभिनिवेश क्लेश ही सकाम कर्म का कारण है जिनकी वासनाएं (कर्माशय) चित्त भूमि में बैठकर वर्तमान और अगले जन्मों को देने वाली होती हैं। इन कर्माशयों अर्थात् सकाम कर्म की वासनाओं के अनुसार ही जाति, आयु और भोग होते हैं। जाति आयु और भोग में पाप पुण्य के अनुसार सुख,

दुःख मिलता है। पुण्य अर्थात अहिंसात्मक दूसरों को सुख पहुंचाने वाले कर्मों से जन्म, आयु और भोग में सुख मिलता है, पाप अर्थात् हिंसात्मक दूसरों को दुःख पहुंचाने वाले कर्मों से दुःख मिलता है। इस प्रकार क्लेशों द्वारा क्रमानुसार बहिर्मुख होते हुए, संसार चक्र में घूमते हुए प्राणी नाना प्रकार के दुःखों को प्राप्त होते हैं। इन दुःखों की निवृत्ति के लिये इसी क्रमानुसार अन्तर्मुख होने का सरल मार्ग अष्टाङ्ग योग बताया गया है।

अन्तर्मुख होने का उपाय अष्टाङ्गयोग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ योग के अङ्ग हैं।

(१) यम— बहिर्मुखता की सबसे अन्तिम अवस्था मनुष्य का अन्य सब प्राणियों के साथ व्यवहार है। इसलिये सबसे प्रथम इस बाह्य व्यावहारिक जीवन को यमों द्वारा सात्विक बनाना होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य अपरिग्रह ये पांच यम हैं। अहिंसा—शरीर, वाणी, और मन से काम, क्रोध, मोह, लोभ, भय आदि की मनोवृत्तियों के द्वारा किसी प्राणी को शारीरिक, मानसिक अथवा आत्मिक पीड़ा अथवा हानि पहुंचाना या उसकी अनुमति देना या स्पष्ट अथवा अस्पष्ट रूप से उसका कारण बनना हिंसा है इस से बचना अहिंसा है।

सत्य—वस्तु का यथार्थ ज्ञान सत्य है। उसका शरीर से काम

में लाना शारीरिक सत्य है। वाणी से कहना वाचिक सत्य है और विचार में लाना मानसिक सत्य है। जो जिस समय जिसके लिये जैसा यथार्थ रूप से करना चाहिए वही सत्य है। अर्थात् कर्तव्य ही सत्य है।

अस्तेय— अन्यायपूर्वक किसी के धन, वैभव, द्रव्य अथवा नागरिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक आदि अधिकारों का हरण करना स्तेय है। इसका त्यागना अस्तेय है। ब्रह्मचर्य— मैथुन अथवा अन्य किसी प्रकार से भी वीर्य का नाश न करते हुए जितेन्द्रिय रहना अर्थात् अन्य सब इन्द्रियों के निरोध पूर्वक उपस्थ इन्द्रिय के संयम का नाम ब्रह्मचर्य है। अपरिग्रह—धन सम्पत्ति भोग सामग्री अथवा अन्य सब वस्तुओं को अपनी शरीर रक्षा आदि आवश्यकताओं से अधिक केवल अपने ही भोग के लिये स्वार्थ दृष्टि से सञ्चय करना या इकट्ठा करना (Hoarding & locking up) परिग्रह है। इससे बचना अपरिग्रह है। यमों का सम्बन्ध दूसरे प्राणियों के साथ होता है। इसलिये इनके द्वारा दूसरे प्राणियों के साथ व्यवहार अर्थात् वाह्य सामाजिक जीवन सात्विक, पवित्र और दिव्य हो जाता है। सकाम कर्म जो जन्म आयु और भोग के कारण हैं, निवृत्त हो जाते हैं। वाह्य व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले राग द्वेष और अभिनिवेश क्लेश तनु हो जाते हैं।

(२) नियम पांच हैं— शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान।

शौच–शौच दो प्रकार का है। वस्त्र शरीर आदि की शुद्धि बाह्य शौच है। और मन, अन्तःकरण आदि की शुद्धि आभ्यन्तर शौच है।

सन्तोष– सामर्थ्यानुसार उचित प्रयत्न के पश्चात् जो फल मिले, अथवा जिस अवस्था में रहना हो उस में प्रसन्न चित्त बने रहना और सब प्रकार की तृष्णा का छोड़ देना सन्तोष है।

तप— जिस प्रकार अश्व विद्या का कुशल सारथी चंचल घोड़ों को सधाता है, इसी प्रकार शरीर प्राण इन्द्रियों और मन को उचित रीति और अभ्यास से वशीकरण करने को तप कहते हैं। जिस से सर्दी, गरमी, भूख, प्यास, सुख, दुःख, हर्ष, शोक आदि सब द्वन्द्व अवस्थाओं में विना विक्षेप के योग मार्ग में प्रवृत्त रह सके।

स्वाध्याय— वेदों तथा अध्यात्म सम्बन्धी विवेक ज्ञान उत्पन्न करने वाले सत् शास्त्रों को नियमपूर्वक अध्ययन और ओंकार सहित गायत्री आदि मन्त्रों का जप स्वाध्याय है।

ईश्वर प्रणिधान—ईश्वर की भक्ति विशेष फल सहित सब कर्मों का उसके समर्पण करना और 'ओ३म्' का उसके अर्थों की भावना सहित जाप अर्थात् शरीर, मन, वाणी अन्तःकरण आदि

सारे बाह्य और आभ्यन्तर अंगों को उनकी क्रियाओं और फलों के सहित अर्थात् बाह्य आभ्यंतर सर्व जीवन को ईश्वर के समर्पण कर देना ईश्वर प्रणिधान है। नियमों का संबंध केवल अपने ही शरीर तथा इन्द्रियों और अन्तःकरण के साथ होता है। इसलिये इनके यथार्थ पालन से अपनी व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला सारा बाह्य व्यावहारिक जीवन, राजसी, तामसी, विक्षेप और आवरण रूप मलों से धुलकर सात्विक पवित्र और दिव्य बन जाता है।

(३) आसन— जिस रीति से स्थिरतापूर्वक बिना हिले डुले दीर्घ काल तक सुख के साथ बैठ सके वही आसन है। आसन का सम्बन्ध शारीरिक क्रिया से है। इसके द्वारा शरीर की रजो रूप चंचलता और अस्थिरता और तमो रूप आलस्य, प्रमाद हट कर शरीर में सात्विक प्रकाश और दिव्यता उत्पन्न होती है।

(४) प्राणायामः—आसन के स्थिर होने पर श्वास और प्रश्वास की गति को रोकना प्राणायाम है। प्राणायाम द्वारा प्राण की गति को रोक कर अथवा धीमा कर के शरीर की आन्तरिक गति (प्राण) को सात्विक (दिव्य) बनाया जाता है।

(५) प्रत्याहार— प्रत्याहार का अर्थ है पीछे हटना, उलटा होना, विषयों से विमुख होना। इस में इन्द्रियां अपने बहिर्मुख विषयों से पीछे हटकर अन्तर्मुख होती हैं। इस कारण इसको प्रत्याहार कहा गया है। प्रत्याहार द्वारा इन्द्रियों को आलस्य

रूप तमो और बहिर्मुखता रूप रजो से शून्य करके उनको सात्विक रूप में चित्त के साथ अन्तर्मुख करके दिव्य बनाना होता है।

(६) धारणा—चित्त का वृत्ति मात्र से किसी स्थान विशेष में बांधना धारणा कहलाता है। धारणा द्वारा चित्त के मूढ़ और क्षिप्त रूप रजो को हटा कर उसको सात्विक रूप में वृत्तिमात्र से किसी एक विषय में ठहरा कर दिव्य बनाना होता है।

(७) ध्यान— जिस ध्येय विषय में चित्त को धारणा द्वारा वृत्तिमात्र से ठहराया है, उसमें वृत्ति का एक सा बना रहना ध्यान कहलाता है। अर्थात् जिस विषय में चित्त को वृत्तिमात्र से ठहराया है उस वृत्ति को अस्थिर करने वाले रजो और प्रमाद उत्पन्न करने वाले तमो को हटाकर चित्त को उस सात्विक (दिव्य) रूप से लगातार उस एक वृत्ति में ही लगाए रखना ध्यान है।

(८) समाधि—वह ध्यान ही समाधि कहलाता है जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्र से भासता है और ध्यान तथा ध्यातृ का स्वरूप शून्य जैसा हो जाता है। अर्थात् जिस विषय में चित्त को वृत्ति मात्र से अवछिन्नता के साथ लगाया है। उस ध्येयाकार वृत्ति को जो रजो ध्यान और ध्यातृ आकारता रूप में ले जा रहा है और तमो जो उस ध्यान और ध्यातृ रूप आकारता को बनाए हुए है उस लेशमात्र रजो और तमो को भी हटा कर चित्त का उस सात्विक (दिव्य) रूप में ध्यातृ और ध्यान से शून्य जैसा होकर

केवल ध्येयाकार रूप में भासना समाधि है। इन आठों अङ्गों में से पहिले पांच बहिरंग साधन कहलाते हैं। उसमें इनका सीधा सम्बन्ध नहीं होता। और अन्तिम तीन इसलिये अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं क्योंकि जिस विषय में समाधि लगाई जाती है वे उसी को लेकर चलते हैं। किंतु ये तीनों भी असम्प्रज्ञात समाधि के बहिरंग साधन हैं। उसका अन्तरंग साधन पर वैराग्य है जिस के द्वारा चित्त को आत्मा से अलग साक्षात् कराने वाली विवेक ख्याति रूप सात्विक वृत्ति जो अष्टाङ्ग योग की अन्तिम सीमा है, उसका भी निरोध होकर शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है।

अविद्या और अस्मिता आदि क्लेश, धारणा, ध्यान और समाधि में तनु होकर विवेक ख्याति रूप अग्नि में दग्ध बीज तुल्य हो जाते हैं और असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा धर्मी चित्त के अपने कारण में लीन होने से उनका भी लय हो जाता है।

अष्टाङ्ग योग में निचली भूमियों को सात्विक बनाते हुए ऊंची भूमियों में आरोह (ascent) होता है। उन ऊंची भूमियों की सात्विकता की अधिकता के अनुसार ही दिव्यता, आत्मस्पर्श (अन्तरात्मा का पाना) की वृद्धि होती है। उन ऊंची भूमियों की उस सात्विकता और दिव्यता को लेकर अवरोह (descent) में नीची भूमियों को सात्विक और दिव्य बनाया जाता है। और फिर उन नीची भूमियों की उस सात्विकता और दिव्यता को

लेकर ऊंची भूमियों को आरोह द्वारा सात्विक और दिव्य बनाया जाता है। इस प्रकार नीची और ऊंची सारी ही भूमियां सारे अङ्ग और उनकी क्रियाएं अर्थात् बाह्य अभ्यन्तर सारा ही जीवन सात्विक और दिव्य बन जाता है।

(शेष सांख्य योग के प्रकरण के अन्तिम भाग के समान समझना चाहिए।)

चौथा प्रकरण

उपाय प्रत्यय योग :—

श्रद्धावीर्य्य स्मृति समाधि प्रज्ञा पूर्वक इतरेषाम् ॥

॥ समाधि या० २० ॥

विदेह और प्रकृति लयों से भिन्न साधारण योगियों को जो असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है वह श्रद्धा वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा पूर्वक होता है। अर्थात् योग की प्राप्ति के लिये अभिरूचि अथवा उत्कट इच्छा को उत्पन्न करने वाले विश्वास का नाम श्रद्धा है। उस श्रद्धा से वीर्य्य अर्थात् योग साधन की तत्परता उत्पन्न करने वाला उत्साह उत्पन्न होता है। श्रद्धा के अनुसार उत्साह और उत्साह के अनुसार साधन में तत्परता उत्पन्न होती है। उस उत्साह से पिछले जन्म जन्मान्तरों में प्राप्त किये हुए समाधि के संस्कारों का जागृत होना स्मृति है। उन समाधि के संस्कारों से चित्त का एकाग्र और स्थिर होने लगना

समाधि है। उस समाधिस्थ एकाग्र चित्त में ऋतम्भरा प्रज्ञा अर्थात् विवेक ख्याति उत्पन्न होती है। इस से भी परवैराग्य होने पर असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है।

(शेष पहले व तीसरे प्रकरण के अन्तिम भाग के समान हैं)

पांचवा प्रकरण

ईश्वर प्रणिधान

ईश्वर प्रणिधानाद्वा। समा० पा० २३॥ अथवा ईश्वर प्रणिधान से शीघ्रतम असम्प्रज्ञात समाधि का लाभ होता है। ईश्वर प्रणिधान का सामान्य अर्थ ईश्वर की भक्ति विशेष और शरीर, इन्द्रिय, मन, प्राण अन्तःकरण आदि सब करणों और उनसे होने वाले सारे कर्मों और उन के फलों को अर्थात् सारे बाह्य और आभ्यन्तर जीवन को ईश्वर समर्पण कर देना है। जैसा कि साधन पाद सूत्र १ व ३२ में सामान्य रूप से पाए जाते हैं, किन्तु यहां उसके विशेष अर्थ—

तज्जपस्तदर्थ भावनम्॥ समा० पा० ॥२८॥ में बताए गए हैं, अर्थात् सूत्र २६ तक ईश्वर का लक्षण पांचों क्लेशों और सकाम कर्मों उनके फलों और वासनाओं से न छुआ हुआ, निरतिशय, सर्वज्ञता के बीज वाला और पूर्व उत्पन्न हुए ब्रह्मादिकों का भी गुरु होना बताया है। सूत्र २७ में उस का नाम 'ओ३म्'

बतलाया गया है। उस 'ओ३म्' शब्द का जप और उस के अर्थों की भावना करना ईश्वर प्रणिधान है। उपासना में उपासक का ध्येय उपास्य के गुणों को धारण करना, उसके तद्रूप होना अर्थात् उसके स्वरूप में अवस्थित होना होता है। ईश्वर के अनन्त गुण हैं किन्तु योगियों को अविद्यादि क्लेशों और सकाम कर्मों से जो सारे बन्धनों का कारण हैं मुक्त होकर शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित होना है। इसलिये उनको अपनी उपासना में इतने ही ईश्वर के लक्षण अभिमत हैं।

ओ३म् की मात्राओं से उपासना

'ओ३म' में अकार, उकार और मकार तीन मात्राएँ हैं। और चौथा अमात्र विराम है। ओ३म के अर्थों की भावना करते हुए वाणी से जप करना एक मात्रा वाले अकार ओ३म् की उपासना है। इस अकार 'ओ३म्' की उपासना में स्थूल शरीर का अभिमान रहता है। इसलिये स्थूल शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा विश्व है वह उपासक होता है और स्थूल जगत के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा विराट् है वह उपास्य होता है। ओ३म् के मानसिक जप में दो मात्रा वाले अकार उकार ओ३म् की उपासना होती है। इस उपासना में सूक्ष्म शरीर का अभिमान रहता है। इस लिये सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा तैजस है, वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत के सम्बन्ध से

जो परमात्मा की संज्ञा हिरण्य गर्भ है वह उपास्य होता है। जब यह मानसिक जप भी सूक्ष्म होकर केवल ध्यान ही रह जावे तो यह तीन मात्रा वाले पूरे 'ओ३म्' की उपासना होती है इस में कारण शरीर का अभिमान बना रहता है। इसलिये कारण शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा प्राज्ञ है, वह उपासक होता है और कारण जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा की संज्ञा ईश्वर है वह उपास्य होता है। जब यह तीन मात्रा वाली ध्यान रूप वृत्ति भी निरुद्ध हो जावे तो अमात्र विराम रह जाता है। यह कारण शरीर और कारण जगत् दोनों से परे उपासक उपास्य भेद से रहित केवल शुद्ध चैतन्य परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है। जो प्राणीमात्र का अन्तिम ध्येय है।

छटा प्रकरण

ईश्वर और उसकी शक्ति (माता)

ईश्वर की भक्ति और उपासना पुरुष लिङ्ग पिता गुरु और स्त्रीलिङ्ग माता दोनों रूपों से की जा सकती है। यथा—

"त्वमेव माता च पिता त्वमेव।"

इत्यादि किन्तु ईश्वर से अतिरिक्त (भिन्न) उसकी शक्ति की उपासना तो जड़ प्रकृति की ही उपासना हो सकती है, जिसके बन्धनों से छूटना और जिस पर विजय प्राप्त करना न केवल पातञ्जल योग का किन्तु अन्य सभी दर्शनों और वेदों का मुख्य

उद्देश्य है। उसकी उपासना में स्थूल दृष्टि वाले नीची भूमि वालों को सिद्धियां भले ही प्रतीत हों, किन्तु सूक्ष्मदर्शी आत्मोन्नति चाहने वाले ऊंची भूमि वाले योगियों को वह प्रकृति में जकड़ने वाले बन्धन ही प्रतीत होते हैं। "दृक् शक्ति" (२।६)। "स्वामि शक्ति" (२।२३) "चिति शक्ति" (४।३४) में शक्ति के शब्द पुरुष के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। उनसे भिन्न उसकी शक्ति अथवा "वैयक्तिक दिव्य शक्ति" के सूचक (जो कि "अदिति" पृ० ७४ में बतलाया गया है) नहीं हैं।

सातवां प्रकरण

प्रकाश

इस प्रकरण में केवल उन सात प्रकार के प्रकाश का स्वरूप दिखलाया जावेगा जिनका 'अदिति" के लेख में वर्णन है।

सत्त्व प्रकाश वाला है, जितना २ सत्त्व बढ़ता जावेगा उतना ही रज और तम का विक्षेप और मलरूप आवरण हटकर प्रकाश की अधिकता होती जावेगी। और इस प्रकाश की अधिकता की अपेक्षा से ही दिव्यता बढ़ती जावेगी। इस कारण योग की भूमियों के अनुसार ही प्रकाश की श्रेणियों को समझना चाहिए।

यथा:—

१. ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥२।५२॥

उस (चतुर्थ प्राणायाम) से प्रकाश का आवरण अर्थात (विवेकज्ञान का परदा) क्षीण हो जाता है ।

२. तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥३।५॥ उस संयम के जय से समाधि प्रज्ञा का प्रकाश होता है । यह प्रकाश सं० (१) से उच्चतर भूमि का है । क्योंकि विजातीय प्रत्ययों के अभाव पूर्वक केवल ध्येय विषयक शुद्ध सात्विक रूप से बुद्धि का स्थिर होना प्रज्ञालोक है ।

३- बहिरकल्पितावृत्तिर्महा विदेहा ततः प्रकाशावरण क्षयः ॥३।४३॥ शरीर से बाहर कल्पना न की हुई वृत्ति महा विदेहा है उससे प्रकाश के आवरण का नाश होता है । यह प्रकाश सं० (२) से उच्चतर भूमि का है ।

४- प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥३-३३॥ अथवा प्रातिभ ज्ञान से योगी सब कुछ जान लेता है । यह सं० (३) से उच्चतर भूमि का प्रकाश है, जो विवेक ज्ञान का प्रथम रूप है ।

५- क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्॥३-५२॥ क्षण और उसके क्रमों में संयम करने से विवेक ज्ञान उत्पन्न होता है । यह विवेक ज्ञान का प्रकाश सं० (४) से उच्चतम भूमि का प्रकाश है क्योंकि वह इसी का पूर्व रूप है ।

६- योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्यातेः ॥२-२८॥ योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि के

नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेक ख्याति पर्यन्त हो जाता है। यह प्रकाश सं० (५) की भूमि का है, क्योंकि विवेक ज्ञान विवेक ख्याति का ही पर्यायवाचक शब्द है। यह विवेक चित्त् और चिति शक्ति में भिन्नता दिखलाने वाला सब से उच्चतम भूमि का है।

७- ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥१-४८॥ अध्यात्म प्रसाद विवेक ख्याति की परिपक्व अवस्था का नाम है। उसके लाभ होने पर जो प्रज्ञा उत्पन्न होती है, उसका नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा (सच्चाई को धारण करने वाली अविद्यादि से रहित बुद्धि) है। यह सं० (५.६) के स्थिर प्रकाश वाली भूमि है।

ये सब प्रकाश की भूमियां सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था विवेक ख्याति तक की हैं। श्री अरविन्द की योग पद्धति में विवेक ख्याति की तो कोई बात ही नहीं बतलाई गई है "उच्च मन से लेकर अतिमानस (विज्ञान) तक उत्तरोत्तर प्रकाश परम्प्राओं को" जिस प्रकार दिखलाया गया है उस के अनुसार तो वे पहिली तीन प्रकाश की भूमियों से नीचे ही रहते हैं आगे नहीं जाते।

आठवां प्रकरण

आरोह और अवरोह (Ascent and descent)

व्युत्थान दशा से लेकर वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिताअनुगत समाधि, विवेकख्याति और स्वरूप अवस्थिति तक अथवा अन्नमय

कोश से लेकर प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय और स्वरूप अवस्थिति तक जितनी भी ऊंची भूमियों में पहुंचना है वही आरोह है। और उससे फिर व्युत्थान अथवा अन्नमय कोश में जो उतरना है वही अवरोह है। इस आरोह में ऊंची भूमियों के सात्विक अथवा स्वरूप अवस्थिति के निरोधके संस्कारों का जो चित्त भूमि में जमना है वही उनका सात्विक और दिव्य बनाना है और उन संस्कारों को लेकर जो सब से निचली भूमि तक आना (अवरोह) है वही सात्विकता और दिव्यता को नीचे लाना है और उन निचली भूमियों को दिव्य बनाना है। इसे दिव्य रूपान्तर अथवा जात्यान्तर परिणाम भी (जैसा श्री अरविन्द की योग पद्धति में बतलाया है) चाहें तो कह सकते हैं। क्योंकि "जात्यान्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात् ।४।२" एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना अर्थात् शरीर इन्द्रियों, मनादि में विलक्षण शक्ति का हो जाना प्रकृति के भर देने से होता है। और वह आरोह अवरोह द्वारा सात्विक प्रकृति को सारी नीची ऊंची भूमियों में भर के उनको दिव्य बनाना होता है। किन्तु यह रूपान्तर धर्म, लक्षण और अवस्था इन तीनों परिणामों से अतिरिक्त कोई चौथा परिणाम नहीं है (जिस प्रकार अदिति के लेख में बतलाया गया है।) बल्कि इस रूपान्तर अर्थात् जात्यान्तर परिणाम में ये तीनों परिणाम हो रहे हैं इसको अगले प्रकरण में बतलाया जावेगा।

नवां प्रकरण

जात्यान्तर परिणाम में तीनों परिणामों का होना

परिणाम तीन प्रकार के होते हैं :—

धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम और अवस्था परिणाम।

धर्म परिणाम :— धर्मी के अवस्थित रहते हुए पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर उस के अन्य धर्म की प्राप्ति होना धर्म परिणाम है। शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का राजसी तामसी आवरण रूप धर्म को छोड़ कर विलक्षण शक्ति रूप सात्विक धर्म का ग्रहण करना उसका धर्म परिणाम है।

लक्षण परिणाम :— काल परिणाम को लक्षण परिणाम कहते हैं। वह तीन भेद वाला है– अनागत (भविष्य), वर्तमान (उदित), अतीत (भूत)। प्रत्येक धर्म इन तीन लक्षणों से युक्त होता है। शरीर, इन्द्रिय, मन आदि के राजसी, तामसी आवरण रूप धर्म का वर्तमान लक्षण को छोड़ कर अतीत में छिप जाना अतीत लक्षण परिणाम है। विलक्षण शक्ति रूप सात्विक धर्म का अनागत मार्ग को छोड़ कर वर्तमान काल में प्रकट होना उसका वर्तमान लक्षण परिणाम है।

अवस्था परिणाम :— एक धर्म के अनागत लक्षण से वर्तमान लक्षण में प्रकट होने तक उसकी अवस्था को दृढ़ करने में

और इसी प्रकार वर्तमान लक्षण से अतीत लक्षण में जाने तक, उसकी अवस्था को दुर्बल करने में जो प्रतिक्षण परिणाम हो रहा है वह अवस्था परिणाम है। शरीर, इन्द्रिय मन आदि में उस विलक्षणता का रूपान्तर एक ही क्षण में नहीं हुआ किन्तु धीमे २ इसके संस्कार बनते रहे हैं। यह इसका अवस्था परिणाम है।

सारा जगत तीनों गुणों का परिणाम रूप ही है। इस की प्रत्येक वस्तु में ये तीनों परिणाम हो रहे हैं। इसी प्रकार जात्यान्तर परिणाम में भी ये तीनों परिणाम होते हैं।

दूसरा भाग

पातञ्जल योग का विशाल स्वरूप और श्री अरविन्द की योग पद्धति

पहिले भाग में पातञ्जल योग के विशाल और व्यापक रूप को दिखलाया गया है। अब इस दूसरे भाग में उन आक्षेपों को जो पातञ्जल योग पर किये गये हैं पूर्व पक्ष में रख कर उनका उत्तर, उत्तर पक्ष में दिया जावेगा। इस बात का पूरा ध्यान रक्खा जावगा कि स्वपक्ष रक्षणार्थ के अतिरिक्त दूसरे विरोधी पक्ष पर अपनी ओर से किसी प्रकार का आघात न पहुंचे।

१- **पूर्व पक्ष :—** श्री अरविन्द की योग पद्धति जीवित योग पद्धति है क्योंकि, उसके पथ दर्शक अरविन्द जी जीवित रूप

में विद्यमान हैं। जिस समय पातञ्जल योग लिखा गया हो उस समय उसकी कोई क्रिया-पद्धति या पद्धतियां जीवित रूप में प्रचलित हों। किन्तु आज जीवित रूप में नहीं है। उसका अन्दाज़ ही कर सकते हैं। (अदिति पृष्ठ ७७)

२-उत्तर पक्ष :—पातञ्जल योग कोई संकीर्ण योग पद्धति नहीं है किन्तु सारी योग पद्धतियां योग प्रणालियां और योग सम्प्रदाय उसी के विशाल रूप के अन्तर्गत हैं जैसाकि श्री आचार्य अभयदेव जी ने भी पृष्ठ ७६ पर अपने लेख के पहिले भाग के अन्त में स्वीकार किया है। श्री पातञ्जलि मुनि के भौतिक शरीर न होने पर भी उनके योग दर्शन में सूत्रों द्वारा बतलाए हुए योग के रहस्य सभी योग मार्ग पर चलने वालों के लिए पथ दर्शक बन रहे हैं।

२- पूर्व पक्ष :— पातञ्जल योग की क्रियात्मक विधि बिना किसी अनुभवी गुरु के समझ में नहीं आ सकती। (अदिति पृष्ठ ७७)

२- उत्तर पक्ष :—निःसन्देह पुस्तकीय बात और क्रियात्मक बात में बहुत अन्तर होता है, किन्तु अब भी पातञ्जल योग के अनुभवी पथ दर्शक मौजूद हैं, जो सच्चे जिज्ञासुओं को तालाश करने पर मिल ही जाते हैं। श्री अरविन्द जी की योग सम्बन्धी पुस्तकें पढ़ कर अंग्रेज़ी भाषा के कई अच्छे विद्वान भी यह कहते

सुने गए हैं कि क्रियात्मक रूप से उनमें कोई भी बात समझ में नहीं आ सकती। किन्तु यह बात उनकी इस योग मार्ग से अनभिज्ञता के कारण है। इसको क्रियात्मक रूप से समझने के लिए उनको इस मार्ग के किसी अनुभवी पथदर्शक की अपेक्षा होगी।

३- पूर्वपक्ष:—यद्यपि सब योग शिक्षक पातञ्जल योग को आदर की दृष्टि से देखते हैं पर उनकी पद्धतियां कुछ नई प्रकार की हैं। और कुछ परम्परागत ऐसी विधियां हैं जिनका पातञ्जल योग में नाम भी नहीं है। (अदिति पृष्ठ ७७)

३- उत्तर पक्ष:—जिस प्रकार एक लम्बे पहाड़ी मार्ग में लक्ष्य तक पहुंचने में कई छोटे २ बहुत से अवान्तर मार्ग मिल जाते हैं किन्तु लक्ष्य तक पहुंचने में कोई भेद नहीं होता है। इसी प्रकार सारी विधियां और पद्धतियां भी पातञ्जल योग के ही अन्तर्गत हैं जो सूत्र रूप से बतलायी गयी हैं।

४- पूर्व पक्ष:—सबसे अधिक प्रचलित शक्ति सञ्चार योग है। दूसरे स्थान पर हठयोग तीसरे स्थान पर हठयोग सहित राजयोग पाया जाता है। ठीक पातञ्जल योग क्या है! इस समय निश्चित बताना कठिन है। इसमें सभी योगों के संकेत मौजूद हैं। (अदिति पृष्ठ ७८)

४- उत्तर पक्ष:—जब गुरु शिष्य को क्रियात्मक रूप से

योग की शिक्षा देता है तो एक प्रकार से शक्ति संचार तो होता ही है, किन्तु विशेष रूप से इसका उल्लेख पातञ्जल योग में इस लिए नहीं किया गया है कि इससे एक प्रकार का अन्ध विश्वास, पुरुषार्थ हीनता और नास्तिकता फैलता है। पाखण्डी और ढोंगी शक्ति संचार का ढोंग रचते हैं। साधारण नासमझ लोग अन्ध विश्वास के कारण उनमें धोका खाते हैं। बहुधा देखा गया है कि शक्ति संचारक आचार्यों के शिष्य आदि गुरु परमेश्वर को भूल कर उसके स्थान पर आचार्यों को ही पूजने लगते हैं। और वे भी अपनी प्रतिष्ठा में आसक्ति हो जाने के कारण ईश्वर तुल्य अपनी पूजा करवाने में रस लेने लगते हैं। जिससे वास्तविक रूप में ईश्वर की भक्ति सिखाने के स्थान में मनुष्य पूजा और नास्तिकता के अन्धकूप में गिराने के भागी बनते हैं। बिना परिश्रम के गुरु से शक्ति प्राप्त करने की आशा से बहुधा साधक स्वयं पुरुषार्थ हीन बन जाते हैं। इस निबन्ध के लेखक का इस सम्प्रदाय वालों से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। एक आत्मदर्शी और नाना प्रकार की विभूतियों से युक्त योगाचार्य होने पर भी उनके अनन्त शिष्यों में से बहुत थोड़े ही योग मार्ग में आध्यात्मिक अथवा भौतिक उन्नति करते देखे गये हैं। कारण यह था कि चंद ऊंची कोटि के व्यक्तियों के अतिरिक्त सभी उनकी अद्भुत शक्ति को लेने के विचार से आते थे और स्वयं पुरुषार्थ हीन रहते थे। गुरु का साधकों के निमित्त कुछ घण्टे ध्यान करने और केवल दर्शन मात्र

से शक्ति पहुंचाने की बात भी इसी प्रकार की है। इसीलिये

... मार्ग पर चलने वाले अनुभवी

... कोई

बिरला ही मिल सकेगा।

योग की शिक्षा देता है तो एक प्रकार से शक्ति संचार तो होता

ूल

स,

ंगी

न्ध

कि

मूल

वे

ुल्य

रूप

और

श्रम

स्वयं

दाय

कार

ष्यों

तिक

टि के

ने के

विचार से आते थे और स्वयं पुरुषार्थ हीन रहते थे। गुरु का

साधकों के निमित्त कुछ घण्टे ध्यान करने और केवल दर्शन मात्र

से शक्ति पहुंचाने की बात भी इसी प्रकार की है। इसीलिये पातञ्जल योग के आध्यात्मिक मार्ग पर चलने वाले अनुभवी आचार्य शक्ति संचार करते हुए भी अपने शिष्यों पर इस बात को विशेष रूप से प्रकट नहीं करते। इसलिए ऐसे सिद्धियों के प्रलोभन देने वाले मार्ग को जिसमें पथ दर्शकों को पूरा ढोंग रचने का अवसर मिल सके और पथिकों को बिना पग उठाये मंजिल तय करने का विश्वास हो सके, अनुष्ठान करने वालों की सबसे अधिक संख्या होना स्वाभाविक ही है। हठ योग का सम्बन्ध विशेषकर शरीर और प्राण से है। इस को अष्टांग योग के पांचवें अंग प्रत्याहार तक समझना चाहिये। इस पर चलने वालों की संख्या पहली पद्धति (शक्ति संचार योग) वालों की अपेक्षा तो कम ही होगी। किंतु राजयोग के मानसिक परिश्रम करने वालों से अधिक ही होनी चाहिये। हठयोग सहित राजयोग को पूरा अष्टांग योग समझना चाहिये। केवल हठयोग पर चलने वालों की अपेक्षा उन की संख्या कम होगी। इन में भी वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता अनुगत सम्प्रज्ञात समाधियों की ऊंची भूमियों के साथ २ साधकों की संख्या भी कम होती जायगी। सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम भूमि विवेक ख्याति पर पहुंचने वालों की संख्या बहुत ही कम मिलेगी। और उससे भी परवैराग्य होने पर असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् स्वरूप अवस्थिति प्राप्त किया हुआ योगी कोई बिरला ही मिल सकेगा।

पातञ्जल योग में सभी योगों के सूत्रों द्वारा केवल संकेत ही हो मौजूद नहीं है किन्तु उनकी विधियां भी मौजूद हैं, जिनको केवल अनुभवी ही जान सकते हैं।

५- पूर्व पक्ष :- तो सब से पहिले श्री अरविन्द जी के योग और पातञ्जल योग में जो भेद है वह योग के स्वरूप के विषय में ही है। पातञ्जल योग में तो योग है "चित्त वृत्ति निरोधः" चित्त की वृत्तियों का निरोध (रुक जाना)। यह योग मन से सम्बन्ध रखता है। मानसिक है। पर श्री अरविन्द जी के योग में मन से परे जाने पर सब जोर है। (अदिति पृष्ठ ७६)

५- उत्तर पक्ष :- चित्त की पांच अवस्थायें हैं— १ मूढ़ावस्था, २ क्षिप्तावस्था, ३ विक्षिप्तावस्था, ४ एकाग्र वस्था, ५ निरुद्धावस्था।

१ मूढ़ावस्था :- इस अवस्था में तम प्रधान होता है। रज तथा सत्त्व दबे हुए गौण रूप से रहते हैं। यह अवस्था काम, क्रोध, लोभ और मोह के कारण होती है। जब चित्त की ऐसी अवस्था होती है तब मनुष्य की प्रवृति अज्ञान, अधर्म, राग और अनैश्वर्य में होती है। यह अवस्था नीच मनुष्यों की है।

२ क्षिप्तावस्था :— इसमें रजो गुण की प्रधानता होती है। तमस् और सत्त्व गौण रूप से रहते हैं, इस कारण राग द्वेष, अधिक होते हैं। इस अवस्था में धर्म, अधर्म, राग, वैराग्य, ज्ञान,

अज्ञान, ऐश्वर्य और अनैश्वर्य में प्रवृत्ति होती है। अर्थात् जब तमोगुण सत्त्व गुण को दबा लेता है तो अधर्म अज्ञान आदि में, और जब सत्त्व तमो गुण को दबा लेता है तो धर्म, ज्ञान आदि में प्रवृत्ति होती है यह अवस्था साधारण सांसारिक मनुष्यों की है।

३ विक्षिप्तावस्था:—इस अवस्था में सत्त्व गुण प्रधान होता है। रजोगुण तथा तमोगुण दबे हुए गौण रूप से रहते हैं। यह निष्काम कर्म करने तथा राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और मोह आदि के छोड़ने से उत्पन्न होती है। इस अवस्था में क्योंकि सत्त्व गुण किसी मात्रा में बना रहता है, इस कारण मनुष्य की प्रवृत्ति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य में होती है। परन्तु रजो गुण चित्त को विक्षिप्त करता रहता है। यह अवस्था ऊंचे मनुष्यों तथा जिज्ञासुओं की है। ये तीनों अवस्थायें चित्त की अपनी स्वाभाविक नहीं हैं और न योग की हैं। क्योंकि बाहर के विषयों के गुणों से चित्त पर उनका प्रभाव पड़ता रहता है।

४ एकाग्र अवस्था :— जब एक ही विषय में सदृश् वृत्तियों का प्रवाह सत्त्व की प्रधानता के साथ चित्त में निरन्तर बहता रहे, तो उसको एकाग्रता कहते हैं। यह चित्त की स्वाभाविक अवस्था है, अर्थात् जब चित्त में बाह्य विषयों के रजोगुण तथा तमोगुण का प्रभाव न रहे, तब वह निर्मल चमकते हुए स्फटिक के सदृश् स्वच्छ होता है; उस समय उसमें परमाणुओं से लेकर

महत्तत्त्व पर्यन्त ग्रहीतृ, ग्रहण और ग्राह्य विषयों का यथार्थ साक्षात् हो सकता है। इसकी अन्तिम स्थिति विवेक ख्याति है। इसका प्रथम भाग में कई बार वर्णन किया गया है। एकाग्रता को सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। इसमें प्रकृति के सर्व कार्यों (गुणों के परिणामों) का पूर्णतया साक्षात् हो जाता है।

५- **निरूद्धावस्था**—जब विवेक ख्याति द्वारा चित्त और पुरुष का भेद साक्षात्कार हो जाता है, तब उस स्थिति से भी वैराग्य (पर वैराग्य) उदय होता है। क्योंकि विवेक ख्याति भी चित्त की ही एक सात्विक वृत्ति है। इस वृत्ति के भी निरुद्ध होने पर सब वृत्तियों के निरोध होने से चित्त की निरुद्धावस्था होती है। इस निरुद्धावस्था में अन्य सब संस्कारों के तिरोभाव पूर्वक पर वैराग्य के संस्कार मात्र शेष रहते हैं। निरुद्धावस्था में अविद्यादि पांचों क्लेश सहित कर्माशय रूप जन्मादिकों के बीज नहीं रहते। इसलिए इसको असंप्रज्ञात तथा निर्बीज समाधि भी कहते हैं। वृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष का निरोध नहीं होता। वह शुद्ध चैतन्य परमात्म स्वरूप में अवस्थित होता है।

उपर्युक्त चित्त की पांचों अवस्थाओं में मन का सम्बन्ध केवल चौथी एकाग्र अवस्था अर्थात् सम्प्रज्ञात् समाधि की भूमियों तक है। पांचवीं निरुद्धावस्था अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि मन से परे की अवस्था है। जिसमें द्रष्टा की शुद्ध परमात्म स्वरूप में

अवस्थिति होती है। यदि श्री अरविन्द जी की योग पद्धति में मन से परे होने से अभिप्राय चौथी अवस्था एकाग्रता अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि से निचली भूमियों अर्थात् विक्षिप्त, क्षिप्त और मूढ़ावस्था में जाना है तो निःसंदेह ऐसे योगाभ्यास का पातञ्जल योग में कोई स्थान नहीं हो सकता।

६- पूर्व पक्ष—यह योग मानसिक नहीं आध्यात्मिक है। इसमें साधक को मन से ऊपर अतिमानस सत्य चेतना में जाना है। और उससे भी मन को रोकना निरुद्ध कर देना नहीं किन्तु उसकी शक्ति से अवतरण द्वारा उसको मनको) बड़े यत्न से शुद्ध क्रिया दिव्य क्रिया के योग्य बनाकर इससे कार्य करना है। (अदिति पृष्ठ ७६)

६- उत्तर पक्ष :—निबन्ध के पहिले भाग में हमने आरोह की भूमियों व्युत्थान दशा से वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता और उसकी उच्चतम भूमि विवेक ख्याति तथा अन्नमय कोश से प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोश तक बतलाई है। इन भूमियों में आरोह की अपेक्षा से चित्त में सात्विकता का प्रकाश बढ़ता जाता है और उसके अनुसार ही श्री अरविंद की यौगिक परिभाषा में "आध्यात्मिकता" बढ़ती जाती है। इन भूमियों से परे सर्व वृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि जो शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति है जिसको श्री

अरविन्द के यौगिक पारिभाषिक शब्दों में पूर्ण अध्यात्मिकता कहना चाहिए, वहां पहुंचना तो श्री अरविन्द के योग का लक्षण हो ही नहीं सकता। किन्तु आनन्दानुगत और अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि भी इनके योग को ग्राह्य नहीं है। इसलिये अधिक से अधिक इस योग की आरोह की भूमि विचारानुगत समाधि की निचली अवस्था हो सकती है। इस भूमि के सत्त्व के प्रकाश में जो परमात्म तत्त्व की प्रतीति हो सकती है। इतनी ही आध्यात्मिकता प्राप्त करना इस योग का लक्ष्य हो सकता है और उसका नाम उनके पारिभाषिक शब्दों में "अतिमानस सत्य चेतना" है। उस भूमि में चित्त की सात्विकता के साथ उस आध्यात्मिकता को लेकर अवरोह पूर्वक व्युत्थान दशा में, भौतिक जगत में चित्त को शुद्ध क्रिया, दिव्य क्रिया के योग्य बना कर इससे कार्य करना है।

हमने निबन्ध के पहले भाग के तीसरे प्रकरण में अष्टांग योग में बतला दिया है कि दूसरे प्राणियों से सम्बन्धित सारे कार्यों को यमों द्वारा और अपनी व्यक्ति से सम्बन्धित सर्व कार्यों को नियमों द्वारा सात्विक, शुद्ध और दिव्य बनाया जाता है। इसलिए श्री अरविन्द जी का योग पातञ्जल योग के यम नियम और वितर्क तथा विचारानुगत समाधि की निचली अवस्था के अन्तर्गत सिद्ध होता है।

७-पूर्व पक्ष—पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है श्री अरविन्द के योग में सम्पूर्ण जीवन ही योग है, केवल चित्तवृत्ति का निरोध ही नहीं। पर केवल चित्त वृत्ति निरोध का तो वहां साधन के तौर पर भी उतना अधिक महत्व नहीं।……… ……इसका यह मतलब नहीं कि इस योग में चित्त वृत्ति निरोध अर्थात् मन को शान्त अचंचल, निश्चल, नीरव, करना साधन के तौर पर आवश्यक नहीं है। यह तो आवश्यक है पर इस योग में स्वभाविक रूप से होना चाहिए। इसलिए श्री अरविन्द के योग में एक ऐसा व्यक्ति अधिक बढ़ा हुआ हो सकता है जिसका मन अभी अचंचल या निरुद्ध नहीं है। पर जिसे अध्यात्म स्पर्श प्राप्त हो चुका है उस मनुष्य की अपेक्षा जिसने चित्तवृत्ति का हठ पूर्वक निरोध काफी समय का प्राप्त किया हो, पर अध्यात्म स्पर्श नहीं पाया है।

७- उत्तर पक्ष :—उपर्युक्त आक्षेपों में सारी बातें परस्पर एक दूसरे के विरुद्ध लिखी हुई हैं। यहां श्री अरविन्द के योग में "चित्त वृत्ति निरोध" का स्वाभाविक रूप में होना आवश्यक मान लिया गया है। और किसी बात का स्वाभाविक बन जाना पूरे अभ्यास के बिना नहीं हो सकता। इसलिए पातञ्जल योग में बतलायी हुई चित्त वृत्ति निरोध का अभ्यास और उसकी भूमियों का मानना श्री अरविन्द के योग के लिए आवश्यक

होगया। जब चित्तवृत्ति निरोध का स्वाभाविक होना इस योग में आवश्यक है तो फिर चंचल चित्त वाले को इस योग में क्यों सन्मान और आदर दिया जाता है।

चंचल चित्त होना और आत्मस्पर्श प्राप्त करना ये दोनों परस्पर अत्यन्त विरोधी बातें हैं। चंचल चित्त वाला आत्म स्पर्श कैसे प्राप्त कर सकता है? हम निबन्ध के पहिले भाग में बतला आए हैं कि जितना २ मन शान्त और एकाग्र होता जाता है उतनी ही उसकी सात्विकता बढ़ती जाती है। और उसी सात्विकता की अपेक्षा से आत्मस्पर्श बढ़ता जाता है। चित्तवृत्ति निरोध काफी समय तो क्या थोड़ी देर भी हठ पूर्वक नहीं किया जा सकता। चित्तवृत्ति निरोध के उपाय अभ्यास और वैराग्य हैं। इनमें से योग के पांच बहिरंग साधन—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार में तो प्रधानता अभ्यास, की है। और अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान और समाधि तथा समाधि की अन्य सब भूमियों में वैराग्य की। सम्प्रज्ञात समाधि जो एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध है उसका कारण अपर वैराग्य (दृष्ट और अनुश्रविक विषयों से तृष्णा रहित होना) होता है और असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् जो सर्व वृत्ति निरोध है उसका कारण परवैराग्य (प्रकृति पुरुष-विषयक-विवेक ज्ञान द्वारा गुण मात्र से तृष्णा रहित होजाना है। एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध विवेक ख्याति में सारे क्लेश दग्ध बीज रूप हो जाते हैं और सर्व वृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात

समाधि में दग्ध बीज रूप क्लेशों का भी अपने कारण चित्त के लीन होने के साथ लय हो जाता है। उस समय 'आत्म स्पर्शता' नहीं होती किन्तु शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है। उस अवस्था में अध्यात्म स्पर्श के प्राप्त न होने की बात कहना कितना आश्चर्य जनक है। वह तो आध्यात्मिकता का पूर्ण शुद्ध स्वरूप है जहां से आध्यात्मिकता और आत्मस्पर्शता को प्राप्त किया जाता है।

८- पूर्वपक्ष— योग का जो अति प्रचलित अर्थ जोड़ना, मिलना है, वह भी पातञ्जल में नहीं प्रतीत होता। व्यास जी ने प्रथम सूत्र की व्याख्या में लिखा है "योगः समाधिः" इस पर लिखते हुए वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट लिखा है कि इस लिए यहां का योग शब्द 'युजिर् योगे' धातु से नहीं बना है किन्तु "युज् समाधौ" से बना है।

युज् समाधौ इत्यस्माद् व्युत्पन्नः समाध्यर्थो,
न तु 'युजिर् योगे' इत्यस्मात् संयोगार्थ इत्यर्थः।

सो पातञ्जल योग में योग का अर्थ केवल समाधि है चित्त वृत्तिनिरोध रूप समाधि। मैंने गत लेख में जो कहा है कि समाधि का भी लक्ष्य प्रज्ञा है वह भी प्रचलित टीकाओं से अनुमोदित नहीं है। टीकाओं के अनुसार तो जिस समाधि से प्रज्ञा पैदा होती है वह सम्प्रज्ञात समाधि है। जब इन ऋतम्भरादि

प्रज्ञाओं का भी निरोध हो जाता है, तब जो असम्प्रज्ञात या निर्बीज समाधि होती है वह असली समाधि है। वह असली पूर्ण चित्तवृत्ति निरोध है असली योग है (अदिति पृष्ठ ७८, ७९)

योग का अर्थ वस्तुतः जुड़ना, युक्त होना है, (न कि समाधि)। जीवात्मा और परमात्मा का जुड़ना इन दोनों का सचेतन सम्बन्ध स्थापित होना। हमारे चित्त व मन के पीछे जो अन्तरात्मा है, हमारे अन्दर की दिव्य सत्ता है, उसका ऊपर भगवान के साथ सम्पर्क हो जाना। आदान, प्रदान होने लगना, इनके जोड़ने वाले मार्ग का खुल जाना, उद्घाटित हो जाना, पुकार आदि पूर्ति का स्थापित हो जाना, यही श्री अरविन्द के योग का स्वरूप है।

(अदिति पृष्ठ ७९)

८- उत्तर पक्ष— संयोग (मिलना) तीन प्रकार का होता है। (१) अन्यतर कर्मज अर्थात् एक के कर्म से उत्पन्न होने वाला जैसे श्येन पक्षी और पर्वत का संयोग। (२) उभय कर्मज अर्थात् दोनों के कर्म से उत्पन्न होने वाला जैसे दो मेंढ़ों का संयोग। (३) संयोगज अर्थात् संयोग से उत्पन्न होने वाला जैसे हाथ और पुस्तक के संयोग से शरीर और पुस्तक का संयोग। संयोग अनित्य होता है। हरएक संयोग अव्याप्य वृत्ति होता है अर्थात जो संयुक्त है उसके सारे स्वरूप में संयोग नहीं होता। किन्तु किसी एक वा किन्हीं एक प्रदेशों के साथ होता है। संयोग अव्यापक वस्तु का होता है।

सर्व व्यापक निर्गुण परमात्मा का जीव के साथ उपर्युक्त कोई भी संयोग सम्भव नहीं हो सकता। यदि एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य के साथ मिलना जैसा परमात्मा का राम, कृष्ण, शिव, बुद्ध, काली, लक्ष्मी आदि रूपों से जीव के साथ मिलना मानते हो तो यह तो परमात्मा के कल्पित रूप हैं। कल्पित न मान कर असली भी मान लो तो भी यह तो चित्त ही का इन रूपों में तदाकार होना है।

यथा—

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थ तदञ्जनता समापत्तिः (१-४१)

अर्थ:—राजस् तामस वृत्ति रहित स्वच्छ चित्त की उत्तम जातीय (अति निर्मल) मणि के समान ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य विषयों में स्थित होकर उनके तन्मय हो जाना (उनके स्वरूप को प्राप्त हो जाना) समापत्ति है। यह तो समाधि ही सिद्ध होती है।

यदि आपका जीवात्मा और परमात्मा के जुड़ने से अभिप्राय 'आत्मस्पर्श' का प्राप्त करना है जैसाकि ऊपर कहा है या जैसा कि यहां बतलाया है "इन दोनों का सचेतन सम्बन्ध स्थापित होना" "चित्त और मन के पीछे जो अन्तरात्मा है, जो हमारे अन्दर की दिव्य सत्ता है, उसका ऊपर भगवान् के साथ सम्पर्क होजाना।"

यह तो वही बात है जो हम निबन्ध के पहिले भाग में वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता, अनुगत समाधि और विवेक ख्याति की भूमियों में और अन्त में सर्ववृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि या स्वरूप अवस्थिति में बतला आए हैं, अर्थात् जितनी जितनी ऊंची भूमियों में चढ़ना होता है उतना ही 'आत्म स्पर्श' "हमारे चित्त और मन के पीछे जो अन्तरात्मा है अर्थात् हमारे अन्दर जो दिव्य सत्ता है उसका ऊपर भगवान् के साथ सम्पर्क" बढ़ता जाता है। फिर यह तो योग के वास्तविक अर्थ समाधि ही हुए मिलना कहां रहा? एक बात और समझा देना है। उपासना में उपास्य के गुणों को धारण करना अर्थात् उपास्य के तद्रूप होना उसके स्वरूप में अवस्थित होना ही होता है, जो समाधि ही है। "जीवात्मा और परमात्मा का जुड़ना" कहना बड़ी भूल है। जो जीव, ईश्वर और परमात्मा के वास्तविक स्वरूप और उनके भेद न जानने के कारण होती है। इसको हम निबन्ध के पहिले भाग पांचवें प्रकरण में 'ओ३म्' की मात्राओं के साथ उपासना में बतला आए हैं अर्थात् एक मात्रा वाले ओ३म् के वाचक जाप की एकाग्रता में स्थूल शरीर का अभिमान रहता है। इस लिए स्थूल शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा विश्व है वह उपासक होता है और स्थूल जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा का नाम विराट् है वह उपास्य होता है। इस उपासना में उपासक 'विश्व' का उपास्य 'विराट्' के गुणों को धारण करना, उसके तद्रूप होना

अर्थात् उसके स्वरूप में अवस्थित होना होता है। दो मात्रा वाले ओ३म के मानसिक जाप की एकाग्रता में सूक्ष्म शरीर का अभिमान रहता है। इसलिए सूक्ष्म शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा 'तैजस्' है वह उपासक होता है और सूक्ष्म जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा का नाम हिरण्यगर्भ है वह 'उपास्य' होता है। इसमें उपासक 'तैजस्' का अपने उपास्य 'हिरण्य गर्भ' के गुणों को धारण करना अर्थात् उसके तद्रूप होना होता है जो उसके स्वरूप में अवस्थिति है। जब ओ३म का मानसिक जाप सूक्ष्म होते २ केवल ध्यान मात्र रह जावे तो यह तीन मात्रा वाले पूरे ओ३म की उपासना है। इसमें कारण शरीर का अभिमान रहता है। इसलिए कारण शरीर के सम्बन्ध से जो आत्मा की संज्ञा प्राज्ञ है वह उपासक होता है और कारण जगत् के सम्बन्ध से जो परमात्मा का नाम ईश्वर है वह उपास्य होता है। इसमें 'उपासक' प्राज्ञ का 'उपास्य' ईश्वर के गुणों का धारण करना अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में अवस्थित होना होता है। इसी को पातञ्जल योग श्री अरविन्द के योग की पद्धति के पारिभाषिक शब्दों में यथार्थ में जीवात्मा का भगवान् (ईश्वर) के साथ सम्पर्क होजाना मानता है। यहां तक एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध सम्प्रज्ञात समाधि है। जब यह ध्यान रूप वृत्ति भी निरुद्ध हो जावे तब चौथे अमात्र ओ३म् में उपासक उपास्य भेद से रहित केवल शुद्ध परमात्म तत्त्व रह जाता है। यह सर्व वृत्ति निरोध

रूप असम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें आत्मा की शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है। पहिले तीनों उपासक विश्व, तैजस् प्राज्ञ आत्मा के सगुण, मिश्रित अथवा शबल स्वरूप हैं और इन तीनों की समान संज्ञा जीव या पुरुष है और उपास्य विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर परमात्मा के सगुण, मिश्रित अथवा शबल रूप हैं। इन तीनों की समान संज्ञा ईश्वर, सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म, शबल ब्रह्म और पुरुष विशेष है तथा कहीं २ पुरुष भी कहा गया है। चौथे सर्व वृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि में शुद्ध परमात्मा स्वरूप में अवस्थिति होती है। यहां केवल शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मा रह जाता है। इसकी संज्ञा परमात्मा, परब्रह्म, निर्गुण ब्रह्म और शुद्ध ब्रह्म है। कहीं २ इस शुद्ध चैतन्य स्वरूप को पुरुष भी कहा गया है। इसलिए यदि श्री अरविन्द की योग पद्धति समाधि के लिए अपने पारिभाषिक शब्द मिलना ही रख लेती है तो भी यह सगुण जीवात्मा का निर्गुण परमात्मा से मिलना अयुक्त और असम्भव सिद्ध होता है।

६- पूर्व पक्ष—योग शब्द के विस्तृत अर्थ लिए जाते रहे हैं जैसे कि उपनिषद में कहा गया है:—

"योगोहि प्रभवाप्ययौ" (कठोप० ६।११) मेरी समझ में यह जगत् व्यापक योग का वर्णन है। गीता में भी 'समत्वं योगउच्यते' तथा 'योगः कर्मसु कौशलम्' कह के दो जगह योग की परिभाषा

की गयी है। यह भी जीवन व्यापी योग की तरफ निर्देश करती है। पर पातञ्जल योग में योग को चित्तवृत्ति निरोध तक ही सीमित कर दिया गया है।

९- उत्तर पक्ष—पातञ्जल योग में चित्त वृत्ति निरोध तक योग को सीमित नहीं किया गया है अपितु योग का पूर्ण और व्यापक स्वरूप योग की अन्तिम सीमा वृत्ति निरोध तक दर्शाया गया है। हम इस निबन्ध के पहिले भाग में बतला आए हैं कि अष्टांग योग के पहिले पांच बहिरंग साधनों में यमों द्वारा दूसरे प्राणियों से सम्बन्ध रखने वाला सम्पूर्ण वाह्य जीवन, नियमों द्वारा अपनी व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला सम्पूर्ण व्यक्तिगत जीवन, आसन द्वारा शारीरिक जीवन, प्राणायाम द्वारा प्राणमय जीवन, प्रत्याहार द्वारा इन्द्रिय मय जीवन और अन्तरंग साधन धारणा, ध्यान, समाधि द्वारा मानसिक जीवन को सात्विक अर्थात् दिव्य बनाना या श्री अरविन्द की योग पद्धति के पारिभाषिक शब्दों में इनमें आत्मस्पर्श का लाना अथवा भगवान् को पाना होता है। यह योग का सामान्य रूप है। एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध सम्प्रज्ञात समाधि की चारों भूमियों वितर्क, विचार, आनन्द, अस्मिता अनुगत समाधि में और विवेक ख्याति में अन्तःकरण का दिव्य बनाना, आत्मस्पर्श करना अथवा भगवान् का पाना होता है। और वृत्ति निरोध की दूसरी उच्चतम अवस्था सर्ववृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि में तो जहां से 'दिव्यता' लाई जाती है, जहां

से 'आत्मस्पर्श' प्राप्त किया जाता है, जिस भगवान् को योग के सामान्य रूप में पाया जाना बतलाया गया है, उसी भगवान् के शुद्ध चैतन्य परमात्म स्वरूप में अवस्थित होकर वही बन जाना होता है।

यदापञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्॥
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय धारणम्।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ॥

(६।७,११ कठो०)

अर्थः—जब पांचों ज्ञानेन्द्रियां मन के साथ स्थिर हो जाती हैं। (प्रत्याहार द्वारा अन्तर्मुख हो जाती हैं) और बुद्धि भी चेष्टा रहित हो जाती है। (चित्त की सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है) उसको परमगति (सबसे ऊंची अवस्था) कहते हैं। उसी को योग मानते हैं, जो इंद्रियों की निश्चल धारणा है।

उस समय वह (योगी) प्रमाद से (अपने स्वरूप को भूला हुआ जो वृत्ति सारूप्य प्रतीत हो रहा था उससे) रहित होता है। अर्थात् शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित होता है क्योंकि योग प्रभव और अप्यय (निरोध के संस्कारों के प्रादुर्भाव अर्थात् प्रकट होने और व्युत्थान के संस्कारों के अभिभव अर्थात् दबने का स्थान) है। उपर्युक्त उपनिषद् में सर्ववृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात

समाधि का स्पष्ट रूप से वर्णन है। जिसमें निरोध के संस्कारों का प्रकट होना और व्युत्थान के संस्कारों का दबना होता है।

यथा—

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोर्भिभव प्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचिन्तान्वयो निरोध परिणामः
(यो०द० ३-६)

अर्थ—व्युत्थान के संस्कारों का अभिभव अर्थात् दबना और निरोध के संस्कारों का प्रादुर्भाव (प्रकट होना) यह जो निरोध काल में (सर्ववृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि में) होने वाला चित्त का दोनों संस्कारों में अनुगत होना है वह निरोध परिणाम कहा जाता है।

योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत दुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
(गीता २।४८,५०)

अर्थ—हे अर्जुन! योग में स्थित हुए संग को त्याग कर और सिद्धि असिद्धि में सम होकर तू कर्मों को कर यह समता ही योग कहलाती है ॥४८॥ (समत्व) बुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य और पाप दोनों को यहां छोड़ देता है। इस लिए तू योग के लिए कर्म

में युक्त हो। कर्मों में योग कल्याण रूप है ॥५०॥ उपर्युक्त दोनों श्लोकों में 'समत्वं योग-उच्यते' तथा योगः कर्मसु कौशलम्" में अनासक्त निष्काम कर्म योग की शिक्षा है। जिसका यो० द० ४-७ में स्पष्ट रूप से अनुष्ठान करना बतलाया गया है।

"कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्"

(यो० द०—४-७)

अर्थ—योगी का कर्म न पुण्य वाला होता है न पाप वाला, क्योंकि पाप कर्म हिंसादि तो उसके लिए सर्वथा त्याज्य ही हैं। और पुण्य कर्म परोपकारादि अनासक्त निष्काम भाव से ईश्वर समर्पण करके करता है। इसलिए कर्तापने का अभिमान और फलों में आसक्ति न होने से सब कर्म उसके लिए अकर्म रूप ही हैं। दूसरे साधारण (अयोगी) लोगों के पाप, पुण्य और पाप पुण्य से मिश्रित, तीन प्रकार के कर्म होते हैं।

पातञ्जल योग के अनुसार तो यह समत्व बुद्धि अथवा निष्काम कर्म योग जीवन व्यापी तभी कहा जा सकता है। जब इसका योग के निचले अङ्गों और उसकी ऊंची भूमियों में भी समान रूप से अनुष्ठान किया जावे।

१०- पूर्व पक्ष—"श्री अरविन्द के योग का स्वरूप ऐसा इसलिए है, क्योंकि उसका लक्ष्य भगवान् को पूर्णतया प्राप्त करना है, न कि कैवल्य प्राप्त करना। कैवल्य का अर्थ भी बहुत से लोग

परमात्मा की प्राप्ति समझ सकते हैं। स्वामी दयानन्द जी ने 'सत्यार्थ प्रकाश' के नवम समुल्लास के अन्त में मुक्ति का वर्णन करते हुए पातञ्जल योग के आरम्भिक दो सूत्रों को उद्धृत किया है। "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः" ॥१॥ "तदा द्रष्टुः स्वरूपे ऽवस्थानम्" ॥२॥ और न केवल एकाग्रता का अर्थ परमात्मा और धर्मयुक्त कर्म में चित्त को ठहराना किया है किन्तु द्रष्टा के स्वरूप में ठहरने का अर्थ "सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा की स्थिति" किया है। व्यास भाष्यादि के अनुसार यहां परमात्मा या ईश्वर का कोई नाम निशान तक नहीं है। स्वामी जी जैसा समाधि की केवलता को परमेश्वर में स्थिति मानते हैं, वैसे कैवल्य को भी परमात्म प्राप्ति मानते हैं। पर सांख्य योग दर्शन की मानी हुई प्रचलित व्याख्या के अनुसार "कैवल्य" यह परिभाषा जिस अर्थ में प्रयुक्त हुई है, वह पुरुष (आत्मा) का केवल हो जाना, संसार के खेल से तटस्थ हो जाना, प्रकृति का उसके प्रति बिल्कुल निवृत्त हो जाना है जिसका कि वर्णन योग दर्शन में सबसे अन्तिम सूत्र द्वारा इस प्रकार हुआ है। "पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठां वा चितिशक्तिरिति" ॥

यदि कैवल्य यही है तो इस वैयक्तिक मोक्ष को पाना श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य नहीं है।

श्री अरविन्द के योग की सिद्धि के लिए तो केवल नहीं होना

है, किन्तु भगवान् से मिलना है। पूरी तरह मिलना है। जगत् को नहीं छोड़ना, किन्तु जगत् पर भगवान् का राज्य स्थापित करना है। प्रकृति को त्याज्य (हेय) समझ कर प्रकृति से किनारा नहीं करना, किन्तु प्रकृति का भी रूपान्तर कर उसे दिव्य खेल के योग्य बना देना है। इस योग का साधक इसलिए योग साधना नहीं करता कि वह अन्त में भगवान् में लीन हो जाय और ख़त्म हो जाय। वह तो इसलिए साधना करता है कि वह भगवान् के हाथों में उसका शुद्ध दिव्य यन्त्र बन जाय, फिर भगवान् उसका जो चाहे सो करे। (अदिति पृष्ठ ८०)

१०- **उत्तर पक्ष**—"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" का जो अर्थ श्री स्वामी दयानन्द जी ने सबके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में, जीवात्मा की स्थिति किया है वह ठीक है। इसी से स्वामीजी का सब दर्शनों के तत्व के ज्ञाता और योगमार्ग के अनुभवी होना सिद्ध होता है। श्री स्वामी दयानन्द जी के कार्य क्षेत्र में प्रधानता वेद:प्रचार, धर्म रक्षा और समाज सुधार और राष्ट्र को स्वाधीन बनाने की थी जो सारी मनुष्य समाज से सम्बन्ध रखती है। इसलिए सर्व साधारण के मनुष्यों की योग्यता को दृष्टिगोचर रखते हुए उनको एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध योग अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि तक ही योग शिक्षा देना पर्याप्त प्रतीत हुआ; उस एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध में जीवात्मा की ईश्वर के स्वरूप में अवस्थिति

होती है। इस विषय को और स्पष्ट रूप से समझना चाहिए। प्रथम भाग में ओ३म् की मात्राओं द्वारा उपासना में हम बतला आए हैं कि एक मात्रा वाले ओ३म् की उपासना में द्रष्टा विराट् के, दो मात्रा वाले ओ३म् की उपासना में हिरण्य गर्भ के और पूरे तीन मात्रा वाले ओ३म् की उपासना में ईश्वर के तदाकार अर्थात् उसके स्वरूप में अवस्थित रहता है। इसी प्रकार वितर्क अनुगत समाधि में विराट्, विचारानुगत और आनन्दानुगत समाधि में हिरण्यगर्भ और अस्मितानुगत समाधि तथा विवेक ख्याति में ईश्वर के स्वरूप में अवस्थित रहता है। विराट् और हिरण्यगर्भ ईश्वर के ही नाम हैं, जो केवल स्थूल और सूक्ष्म जगत् की अपेक्षा से प्रयुक्त किए गए हैं। इसलिए ईश्वर सामान्य नाम है। उपरोक्त सब भूमियां एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि की ही हैं। इनमें ईश्वर के स्वरूप की तदाकारता अर्थात् उसके स्वरूप में अवस्थिति भी इन भूमियों की सूक्ष्मता की अपेक्षा से होती है। एकाग्रता रूप वृत्ति निरोध की अन्तिम सीमा 'ओ३म्' की ध्यान मात्र वाली या विवेक ख्याति रूप शुद्ध सात्विक वृत्ति में पूर्णरूपेण ईश्वर स्वरूप में अवस्थिति होती है। (इसी अवस्था को योग का अन्तिम ध्येय मानने वालों को मुक्ति से पुनरावृत्ति मानना पड़ेगा, क्योंकि इस अवस्था वालों की मुक्ति पुनरावर्तिनी होगी।)

सर्व वृत्ति निरोधरूप योग अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में

उपर्युक्त ओ३म् की ध्यानरूप अथवा विवेक ख्याति रूप शुद्ध सात्विक वृत्ति के भी निरूद्ध हो जाने पर द्रष्टा की शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है, जो प्राणी मात्र का अन्तिम ध्येय है। यह उस आत्मा का शुद्ध स्वरूप है जिसका श्री अरविन्द जी की योग पद्धति की परिभाषा में "आत्म स्पर्श" के नाम से प्राप्त करने का निचली भूमियों में यत्न किया जाता है। यह भगवान् का वह शुद्ध स्वरूप है जिसके श्री अरविन्द की योग पद्धति के पारिभाषिक शब्दों में "जिस भगवान् के पाने का आत्मा, मन, प्राण और शरीर से" उनके योग में यत्न किया जाता है। यह उस दिव्यता का शुद्ध और पूर्ण स्वरूप है, जिससे सारे निचले जीवन को दिव्य बनाया जाता है। यह आरोह (Ascent) की उच्चतम सीमा है। इस आरोह से अवतरण (Descent) होकर ही अपने सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बनाया जाने तथा दूसरों के जीवन को दिव्य बनाने का यत्न किया जाता है। आरोह की इस सीमा तक पहुंचे बिना "सम्पूर्ण मनुष्य जाति को दिव्य देवजाति बना देने, पृथिवी पर स्वर्ग ले आने, मर्त्य लोक को स्वर्गधाम बनाने" के दावे से योगमार्ग से अनभिज्ञ साधारण मनुष्य ही चाहे प्रभावित हो सकें।

वास्तव में सारे संसार को दिव्य बनाना तो दूर रहा अपने ही सम्पूर्ण जीवन को दिव्य बनाने की आशा करना आकाश में गढ़ बनाने के तुल्य है।

असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्य में भेद— इस असम्प्रज्ञात समाधि अर्थात् सर्ववृत्ति निरोध में द्रष्टा की तो शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है और चित्त में निरोध का परिणाम रहता है। ज्यों २ असम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व होती जाती है त्यों २ निरोध के संस्कार बलवान् होते जाते हैं और व्युत्थान के संस्कार नष्ट होते जाते हैं। अन्त में जब निरोध के संस्कार सारे व्युत्थान के संस्कारों को नष्ट कर देते हैं तो वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार सीसा सुवर्ण के मल को नष्ट करने के पश्चात् स्वयं भी जल जाता है। तब चित्त में किसी भी संस्कार के न रहने के कारण चित्त को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन हो जाते हैं और द्रष्टा की शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थिति होती है। इसलिये कैवल्य का लक्षण यह बतलाया गया है—

पुरुषार्थ शून्यानां गुणानां प्रति प्रसवः कैवल्यं।
स्वरूप प्रतिष्ठा वा चिति शक्तिरिति ॥
(योग दर्शन ४—३४)

चित्त को बनाने वाले गुणों का पुरुष का भोग अपवर्ग दिलाने का प्रयोजन पूरा करने के पश्चात् अन्य कोई प्रयोजन न रहने पर अपने कारण में लीन हो जाना कैवल्य है अथवा चिति-शक्ति अर्थात् द्रष्टा का शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित हो जाना कैवल्य है। इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि और कैवल्य में यह

भेद हुआ कि असम्प्रज्ञात समाधि में तो चित्त अपने स्वरूप से बना रहता है किन्तु उसमें निरोध का परिणाम रहता है और कैवल्य में चित्त को बनाने वाले गुण चित्त स्वरूप से नहीं रहते, बल्कि अपने कारण में लीन हो जाते हैं।

अवतार—जिन योगियों के चित्त के सारे संस्कार तो नष्ट हो गये हैं किन्तु सर्व प्राणियों के कल्याण (अर्थात् दिव्य बनाने) का संकल्प शेष है उनके चित्त को बनाने वाले गुण अपने कारण में लीन नहीं होते किन्तु अपने सत्त्व चित्त स्वरूप से ही ईश्वर के विशुद्ध सत्त्वमय चित्त में (जिसमें सारे प्राणियों के कल्याण का संकल्प विद्यमान है) समान संकल्प होने से लीन रहते हैं और वे अपने शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित रहते हैं। जब २ ईश्वरीय नियमानुसार संसार के कल्याण के लिए उनकी आवश्यकता होती है, तब इस भौतिक जगत् में वे अपने शुद्ध आत्म स्वरूप से अवतरण करते हैं. अर्थात् अवतार लेते हैं यथा—

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

(गीता अ० ४—श्लोक ७, ८)

हे भारत! जब जब धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होती है तब तब मैं अपने आपको प्रकट करता हूँ। अर्थात्

अपने शुद्ध स्वरूप से शबल स्वरूप में भौतिक जगत् में ईश्वर की ओर से अवतार लेता हूँ। सज्जनों की रक्षा करने के लिये और दूषित कर्म करने वालों का नाश करने के लिए तथा धर्म स्थापन करने के लिए युग युग में प्रकट होता हूँ।

पृथिवी पर स्वर्ग ले आने इत्यादि की बातें इन्हीं पर घट सकती हैं।

१० (क) पूर्व पक्ष—श्री अरविन्द के योग का स्वरूप ऐसा इसलिए है क्योंकि उसका लक्ष्य भगवान् को पूर्णतया प्राप्त करना है न कि कैवल्य प्राप्त करना।

१० (क) उत्तर पक्ष—"भगवान् का प्राप्त करना" योग का लक्षण दार्शनिक और यौगिक परिभाषा के विरुद्ध है। क्योंकि पाना किसी अप्राप्त वस्तु का होता है और अप्राप्त वस्तु अव्यापक होगी। भगवान् सर्वत्र व्यापक है। इसलिए सदा ही प्राप्त है। इसलिए पातञ्जल योग का स्वरूप "भगवान् के शुद्ध चैतन्य परमात्म स्वरूप में पूर्णतया अवस्थित होना" ही प्रमाण, युक्ति और अनुभव युक्त है। कैवल्य का अर्थ है शुद्ध निखरा हुआ होना। इसलिए शुद्ध चेतन्य परमात्म स्वरूप में अवस्थित होने को ही कैवल्य कहते हैं।

१० (ख) पूर्व पक्ष— यदि कैवल्य यही है तो इस वैयक्तिक मोक्ष को पाना श्री अरविन्द के योग का लक्ष्य नहीं है।

१० (ख) उत्तर पक्ष—यह तो "अंगूर खट्टे हैं" वाली बात है जिस अन्तिम ध्येय तक योगियों का जन्म जन्मान्तर परिश्रम करने के पश्चात भी पहुंचना दुर्लभ होता है उसके लिए वह योग पद्धति जो केवल यम नियम और विचार अनुगत समाधि की निचली भूमि तक ही अपने को सीमित कर लेती है अर्थात् जो केवल बाह्य भौतिक जीवन को ही सम्पूर्ण जीवन समझ लेती है उसको ऐसे शब्द कह देना उचित ही है। किन्तु "वैयक्तिक मोक्ष" क्या इसके अर्थ यह हैं कि व्यक्ति रूप से कोई आत्मोन्नति नहीं होनी चाहिए, सामूहिक रूप से ही होनी चाहिए। फिर हम पूछते हैं कि श्री अरविन्द महाराज व्यक्ति रूप से क्यों आत्मोन्नति कर रहे हैं और वर्ष में केवल दो चार बार ही दर्शन देते हैं। सबका इसी प्रकार आश्रम में अकेले रह कर आत्मोन्नति कराने का प्रबन्ध होना चाहिए।

१० (ग) पूर्व पक्ष—भगवान् से मिलना है, पूरी तरह मिलना है, जगत् को नहीं छोड़ना।

१० (ग) उत्तर पक्ष—"हम .खुदा ख्वाही व हम दुनिया ए दूं। ईं ख्यालस्तो महालस्तो जनूँ"।। जगत् को नहीं छोड़ना और भगवान् को पूरी तरह मिलना ये दोनों बातें परस्पर विरोधी हैं, क्योंकि जिन अंशों में दुनिया को पकड़ा हुआ है उन अंशों में भगवान् से मिलना कैसे सम्भव है?

१० (घ) पूर्व पक्ष—जगत् पर भगवान् का राज्य स्थापित करना है।

१० (घ) उत्तर पक्ष—क्या इस समय भगवान् का राज्य नहीं ? यदि इससे अभिप्राय संसार में सात्विकता और दिव्यता फैलाना है तब तो इससे पातञ्जल योग के लक्ष्य की पूर्ति होती है।

१० (ङ) पूर्व पक्ष—इस योग का साधक इसलिए योग साधना नहीं करता कि वह अन्त में भगवान् में लीन हो जावे, और खत्म हो जावे।

१० (ङ) उत्तर पक्ष—भगवान् में लीन होकर खत्म होना नहीं है किन्तु भगवान् के स्वरूप में अवस्थित होकर भगवान् ही बन जाना होता है। उपास्य में उपासक का अभिन्न रूप से अवस्थित हो जाना ही उपासना और भक्ति की पराकाष्ठा है यथाः—

"जब मैं था तब तू न था, तू पायो मैं नाय।
प्रेम गली अति सांकरी, ता में द्वै न समाय ॥

वेदों में भी ऐसे ही कहा गया है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वाघा स्या अहम् ।
स्युस्टे सत्या इहाशिषः ॥ (ऋक् ८।४४।२३)

अर्थ—हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! यदि मैं तू हो जाऊं और तू मैं हो जाय तो तेरा आशीर्वाद संसार में सत्व हो जावे। यदि आप सर्व वृत्ति निरोध रूप असम्प्रज्ञात समाधि तक आरोह कर जावें तो भी भगवान् में लीन होकर खत्म होने के लिए बाहर से कोई दबाव नहीं डाला जावेगा। यदि आपके चित्त में संसार के कल्याण का संकल्प अथवा संसार को दिव्य बनाने का संकल्प शेष रहेगा तो उस संकल्प से बंधे हुए भौतिक जगत् में अवतरण करके उसकी पूर्ति करनी होगी। सांख्य और योग के सिद्धान्त इतने विशाल और पूर्ण हैं कि सारी योग पद्धतियां यदि वे वास्तव में इस पद के कहलाए जाने के योग्य हैं तो इन्हीं में समावेश कर जाती हैं।

१० (च) पूर्व पक्ष—भगवान् के हाथों में उसका शुद्ध दिव्य यंत्र बन जाय फिर भगवान् उसका जो चाहें सो करें।

(अदिति पृ० ८०)

१० (च) उत्तर पक्ष—यह भगवान् के समर्पण की बात तो अष्टांग योग के दूसरे अंग यमों में और क्रिया योग में ईश्वर-प्रणिधान से बतला दी गयी है। किन्तु इतना और बता देना आवश्यक है कि उपासना की तीन श्रेणियों में से यह तस्मैवाद "मैं उसी का हूँ" प्रथम श्रेणी का समर्पण है। योग और सांख्य की दो उच्चतर और उच्चतम "तवैवाद" मैं तेरा ही हूँ और "त्वमेवाद" मैं तू ही हूँ इससे ऊंची और श्रेणियां हैं।

११- पूर्व पक्ष—और इस योग में भगवान् को पाने का अर्थ यह नहीं है कि केवल मानसिक तौर से (ध्यान और समाधि द्वारा) पाना, जैसा कि साधारणतया समझा जाता है, किन्तु सारे जीवन के द्वारा पाना, या पूर्णरूप से पाना है। अर्थात् आत्मा, मन, प्राण और शरीर इन सबसे भगवान् को पाना है। इसका मतलब है कि आत्मा का परमात्मा की सत्य चेतना से सतत सम्बन्ध हो जाने पर मन और प्राण और शरीर का भी बड़ी भारी साधना द्वारा दिव्य रूपान्तर कर उसमें भगवान् को प्रतिष्ठापित करना; एक शब्द में पूर्णतया दिव्य बन जाना।"

(अदिति पृ० ८०,८१)

११- उत्तर पक्ष—इसमें पातञ्जल योग से अतिरिक्त कोई भी अधिक बात नहीं है। आत्मा का परमात्मा की सत्य चेतना से सतत सम्बन्ध करने का कोई उपाय नहीं बतलाया है किन्तु पातञ्जल योग ने उपाय प्रत्यय, ईश्वर प्रणिधान, अष्टांग योग इत्यादि अनेक उपाय बतलाए हैं। आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार की साधना द्वारा शरीर प्राण और मन को दिव्य रूपान्तर कर उनमें भगवान् को प्रतिष्ठापित करना बतलाया गया है। किन्तु जब समाधि की ऊंची भूमियों द्वारा अन्तःकरण में दिव्य रूपान्तर करके भगवान् को उसमें प्रतिष्ठापित कर लिया तो निचली भूमियों यम, नियम आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार से सम्बन्ध रखने वाला सामाजिक, व्यक्तिगत, शारीरिक प्राणमय

और मनोमय अर्थात् सारा निचला जीवन स्वयं ही दिव्य रूपान्तर हो जाता है और भगवान् प्रतिष्ठापित हो जाते हैं।

१२- पूर्व पक्ष—और फिर यह भी कह देना चाहिए कि कुछ व्यक्तियों का इस प्रकार अपने को पूर्ण दिव्य बना लेने का स्वाभाविक परिणाम यह होगा कि धीमे २ कालान्तर में सम्पूर्ण मनुष्य जाति ही दिव्य, देवजाति बन सकेगी। इस पृथ्वी पर स्वर्ग आ सकेगा, यह मर्त्यलोक स्वर्गधाम बन सकेगा जैसा कि श्री अरविन्द ने "हमारा योग और उसके उद्देश्य" नामक पुस्तक के आरम्भ में कहा है "हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत मुक्ति नहीं है, यद्यपि मुक्ति योग की आवश्यक अवस्था है, बल्कि इसका उद्देश्य है मनुष्य जाति की मुक्ति। हमारा उद्देश्य व्यक्तिगत रूप से आनन्द को प्राप्त करना नहीं है, बल्कि यह है कि भागवतानन्द, ईसा का स्वर्गीय साम्राज्य या हमारा सत्य युग—को पृथ्वी पर उतार लाया जाय"। पर यह एक दूर का ध्येय है। भगवान् जो इस विश्व में योग कर रहे हैं उसका भाग है। हमारे लिए तो इतना कहना पर्याप्त है कि श्री अरविन्द के इस क्रियाशील योग का दूसरे लोगों पर प्रभाव पड़ेगा ही और जो लोग मन से ऊपर जाने को तैयार होंगे, उन सब को सहायता पहुंचेगी और एवं सब जगत् दिव्यता की ओर अग्रसर होगा। (अदिति पृ० ८१)

१२- उत्तर पक्ष—ये सब आशाएें बड़ी पवित्र, उच्च

भावनाओं से सम्बन्ध रखती हैं। यदि इनको चुने हुए शब्दों में लोगों को प्रभावित करके अपने सम्प्रदाय में खींचने और इस पद्धति को अन्य पद्धतियों से शिरोमणि सिद्ध करने के लिए न लिखा गया हो, बल्कि क्रियात्मक रूप में पूरा करने का यत्न किया गया है तो इनसे बहुत सीमा तक पातञ्जल योग की पूर्ति होती है। पर एक बात ध्यान रखने की है, एक व्यक्ति ने जिस भूमि तक पहुंच कर अपने को दिव्य बना लिया है उसको उसी भूमि तक दूसरों को दिव्य बनाने की आशा रखनी चाहिए। आरोह की अन्तिम सीमा हम सर्ववृत्ति निरोध ऊपर सिद्ध कर चुके हैं। वही पूर्ण दिव्यता है अतः श्री अरविन्द की योग पद्धति का वही अन्तिम ध्येय होना चाहिए। दूसरी बात यह है यदि आप चाहें कि सब मिलकर उस भूमि तक पहुंचें, व्यक्तिगत आनन्द प्राप्त करना हमारे योग का उद्देश्य नहीं है तो यह असम्भव होगा। गिने चुने व्यक्ति ही अन्तिम भूमि तक पहुंच सकते हैं। वे आरोह की अन्तिम सीमा पर पहुंच कर कुछ न करते हुए भी दूसरों को दिव्य बना सकते हैं। चन्दन का वृक्ष अपने स्थान पर स्थिर रहता हुआ भी सारे जंगल को सुगन्धित कर सकता है। मानसिक धारा की गति इससे भी तेज है। आत्म दिव्यता इससे भी कहीं सूक्ष्म है। चुम्बक स्वयं गति हीन होकर लोहे में क्रिया उत्पन्न करता है। सूर्य स्थिर रहता हुआ भी तारागण को चला रहा है और उनको प्रकाश दे रहा है। चेतन

तत्त्व स्वयं निष्क्रिय होता हुआ भी जड़तत्त्व पिण्डों में व्यष्टि रूप से और ब्रह्माण्ड में समष्टि रूप से ज्ञान, नियम और व्यवस्था पूर्वक क्रिया दे रहा है। श्री अरविन्द जी महाराज इतने समय से संसार के सारे कार्यों से अलग थलग होकर एकान्तवास में चित्त-वृत्तियों का निरोध कर रहे हैं, जिसके कारण आश्रम वासियों में दिव्यता फैला रहे हैं। यदि कहो कि वे चिट्ठी आदि के लिखने का काम करते हैं तो यह सारे स्थूल कामों की अपेक्षा अति सूक्ष्म है। इस लिए सारे मनुष्य जीवन का पूर्ण रूप से दिव्य होने और सारे संसार में स्वर्गीय राज्य फैलाने की आशा तो तभी हो सकती है जब थोड़े योगी भी सर्ववृत्ति निरोध भूमि में पूर्ण रूप से भगवान् में अवस्थित हों। कहना चाहिए कि पूर्ण रूप से भगवान् और दिव्यता बनकर संसार को दिव्य बनाए और भगवान् का राज्य स्थापित करें अन्यथा ईसा का स्वर्गीय राज्य पृथ्वी पर लाने के लिए तो, हिटलर, मुसोलिनी, स्टेलिन, रूजवेल्ट, चर्चिल और एमरी आदि भी पूरे बल और लग्न के साथ क्रियाशील योग करने का दावा कर रहे हैं।

१३- पूर्व पक्ष--उद्देश्य के अनुसार साधनों में भी भेद आ जाता है। पातञ्जल योग में तो "ईश्वर प्रणिधान, मनो निरोध के मुख्य प्रयोजन के लिए बहुत से साधनों में केवल एक साधन है। जैसा कि "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" में इस "वा" से स्पष्ट है। यद्यपि पांच नियमों में से एक नियम के तौर पर और क्रिया योग

के एक अंग के तौर पर यह पातञ्जल योग में भी अनिवार्य है। पर श्री अरविन्द के योग में यही सब कुछ है ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि भगवान को न केवल सब बाह्य कर्म किन्तु अपने अन्दर बाहर के सब अंगों की सभी क्रियायें और सब अंग और सब कुछ ही भगवान् को सौंपना यहां मौलिक वस्तु है। जितना ही पूर्ण समर्पण होगा, उतनी बड़ी भगवान की शक्ति, माता की शक्ति, हममें संचालित हो सकेगी।

(अदिति पृ० ६१)

१३ उत्तर पक्ष— नियम और क्रिया योग का विशेषतया निचले जीवन और समाधि का विशेषतया ऊंचे जीवन से सम्बन्ध है। इसलिये तीनों सूत्रों में से नियमों और क्रिया योग द्वारा सूत्र २-३२, २-१ में ईश्वर प्रणिधान से पातञ्जल योग में सारे बाहर के अंगों को उनकी क्रियाओं के सहित सारा बाह्य जीवन जो विशेषतया अपनी व्यक्ति, मनुष्य समाज और अन्य सब प्राणियों से सम्बन्ध रखता है और सूत्र १-२३ से सारे अन्दर के अंगों को उनकी अन्दर की क्रियाओं के सहित सारा आभ्यन्तर जीवन जो विशेषतया अन्तरात्मा से सम्बन्धित है, सब कुछ ही ईश्वर के समर्पण कर देना बतला दिया है। अब रही यह बात कि कितनी पूर्णता से कोई समर्पण करता है यह साधक की श्रद्धा और सामर्थ्य पर निर्भर है। पातञ्जल योग ने जो ईश्वर प्रणिधान से अतिरिक्त और भी बहुत से

उपाय पूर्णता प्राप्त करने के बतलाए हैं यह तो उसके विशाल और पूर्ण होने का प्रमाण है न कि संकीर्ण और अपूर्ण होने का, क्योंकि इसमें तो सारी ही योग पद्धतियों का समावेश है न कि अकेले श्री अरविन्द की योग पद्धति का।

१४ पूर्व पक्ष— इस योग का सम्पूर्ण सिद्धान्त यही है कि अपने आपको भगवान् को सौंप दो, समर्पित कर दो, अन्य किसी को भी नहीं, अन्य किसी भी वस्तु को नहीं, और भगवती माता के साथ संयुक्त होकर विज्ञानमय भगवान की पराज्योति शक्ति, विशालता, शान्ति, पवित्रता, सत्य, चेतना, और आनन्द को अपने अन्दर ले आओ। (अदिति पृष्ठ ९२)

१४ उत्तर पक्ष— पातञ्जल योग तो भगवान् को पूर्ण रूप से अपने को समर्पण कर देना बतलाता है और यह समर्पण पूर्ण तब ही कहलाया जा सकता है जब पूर्ण रूप से भगवान् के स्वरूप में अवस्थिति हो जावे। तब विज्ञानमय भगवान् की पराज्योति, शक्ति, इत्यादि को कहीं बाहर से अन्दर लाना शेष नहीं रहता बल्कि ये सब तो स्व : अन्दर विद्यमान होते हैं।

१५ पूर्व पक्ष— "अन्तरात्मा या हृत्पुरुष सीधे भागवत सत्य से सम्बद्ध रहता है, पर मनुष्य में इस हृत्पुरुष को मन, प्राण और देह छिपाए रहते हैं।" इस योग में हृत्पुरुष ही है जो शेष प्रकृति का मुख वास्तविक परम विज्ञान की ओर, अन्त में परम आनन्द की ओर खोल देता है। (अदिति पृ० ८८)

१५ उत्तर पक्ष— इस अन्तरात्मा या हृत्पुरुष का जो सीधा भागवत सत्य से सम्बद्ध रहता है इसको छिपाने वाले केवल देह, प्राण और मन के तीन पर्दे ही नहीं हैं, बल्कि पातंजल योगानुसार अहंकार और चित्त के दो और पर्दे हैं। इन सबका हटाना ही पूर्ण योग कहला सकता है। केवल इन तीनों का हटाना अधूरा ही होगा। अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पांचों कोशों में से श्री अरविन्द जी की योगपद्धति केवल अन्नमय, प्राणमय और मनोमय भूमितक पहुंचती है। अथवा पातञ्जल योग के शब्दों में विचार अनुगत समाधि की पहली अवस्था तक पहुंचती है। सम्प्रज्ञात समाधि की भी इससे दो ऊंची भूमियों आनन्दानुगत और अस्मितानुगत की कोई भी बात नहीं कहती। (विशेष देखो इस निबन्ध के प्रथम तथा तृतीय प्रकरण में)

१६ पूर्व पक्ष— इसलिये श्री अरविन्द कहते हैं इस योग में हृदय ही ध्यान का मुख्य केन्द्र होना चाहिये। जब तक कि चेतना की गति आप ही ऊपर की ओर न हो जावे। (अदिति पृ० ६२)

१६ उत्तर पक्ष— यह पातञ्जल योग की सामान्य बात है। ध्यान के बहुत से स्थानों में हृदय भी एक मुख्य केन्द्र है। जिसकी समाधिपाद सूत्र ३६ की व्यास भाष्य में विशेष व्याख्या की गयी है। समाधिपाद सूत्र ३५ व ३६ में बहुत

से ध्यान लगाने के मुख्य स्थान बतलाए गये हैं। इनमें से विशेष विशेष स्थान विशेष २ प्रभाव और शक्ति से युक्त हैं, इसलिये भिन्न २ पद्धति वालों ने अपनी विशेष भावनाओं और लक्ष्य को दृष्टि में रखते हुए सब साधकों के लिये अपने विशेष स्थानों को ध्यान का केन्द्र बना लिया है।

१७ पूर्व पक्ष— यह हृदय तथा ऊपर में दो ही स्थान हैं जहां श्री अरविन्द के योग की मुख्य गतियां होती हैं। जैसे हृदय की गति में हमें अन्तरात्मा को खोजकर पाना होता है; वैसे ऊपर की गति में मन से भी ऊपर अतिमानस (विज्ञान तत्व) की पूर्ण सत्य चेतना को प्राप्त करना होता है। इस योग साधना में साधक या तो हृदय में कार्य हो रहा है, अनुभव करता है या ऊपर की चेतना में। इन दोनों के बीच आरोहण और अवरोहण (अवतरण) की एक प्रक्रिया चलती है। आरोहण और अवरोहण (अवतरण) ये दोनों परस्पर पूरक होते हैं। आरोहण से दिव्य अवतरण शक्य होता है और अवतरण उसे पूरा करता है, सिद्ध कर देता है, जिसके लिए कि आरोहण किया जाता है।" [इस जगत की पहेली]। इस आरोहण और अवतरण की क्रिया द्वारा ही दिव्यता नीचे लाई जाती है। आरोहण द्वारा भगवान् की दिव्य चेतना तक हमारी पहुंच होती है। और अवरोहण (अवतरण) द्वारा वहां से प्राप्त दिव्यता द्वारा आधार का दिव्य रूपान्तर होता है। (अदिति पृ० ८२)

१७- उत्तर पक्ष—यहां हृदय से ऊपर वाले स्थान का नाम जहां श्री अरविन्द जी के योग की गतियां होती हैं नहीं बतलाया गया है। ब्रह्म रन्ध्र तो हो नहीं सकता, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि तो इस पद्धति का अन्तिम लक्ष्य है ही नहीं इसलिए सम्भवतः वह आज्ञा चक्र, ललना चक्र, सोमचक्र, मानस चक्र, अथवा ललाट चक्र आदि कोई स्थान हो। हृदय की गति में अन्तरात्मा खोजकर पाना और ऊपर की गति में मन से भी ऊपर अतिमानस (विज्ञान तत्त्व) की पूर्ण सत्य चेतना का प्राप्त करना, साधक का हृदय में या ऊपर की चेतना में कार्य होता अनुभव करना, इन दोनों के बीच आरोहण और अवरोहण की प्रक्रिया का चलना, आरोहण और अवतरण दोनों का परस्पर पूरक होना, आरोहण से दिव्यता का अवतरण के योग्य बनना और अवतरण से उसका पूरा होना अर्थात् आरोहण अवतरण की क्रिया द्वारा दिव्यता को नीचे लाना, आरोहण द्वारा भगवान् की दिव्य चेतना तक पहुंचना और अवरोहण द्वारा वहां से प्राप्त दिव्यता द्वारा आधार का दिव्यरूपान्तर करना। इन सब में दो बातें बतलाई गयी हैं। एक तो नीचे से ऊपर के स्थान तक और ऊपर के स्थान से नीचे के स्थान तक एक विशेष क्रिया, दूसरे क्रिया में विशेष भावना। ये दोनों बातें श्री अरविन्द की योग पद्धति की अत्युत्तम हैं। यह क्रिया पातञ्जल योग के सूत्र २–५१ में चतुर्थ प्राणायाम के अन्तर्गत है। चतुर्थ प्राणायाम

के अन्तर्गत इस प्रकार की और बहुत सी क्रियायें हैं जिनको विशेष पद्धति के आचार्य विशेष भावनाओं के साथ करवाते हैं और उनको अपने योग की विशेषता जानकर अपनी पद्धति को सबसे उच्चत्तम समझते हैं, किन्तु जिसने पतञ्जलि मुनि के बिचारों में अपने विचारों को अवस्थित करके पातञ्जल योग की क्रियाओं को जान लिया है और जो किसी विशेष पद्धति का कूप मण्डूक नहीं है वह साधक के अधिकार और योग्यता के अनुसार उसको क्रिया बतलाता है और उसकी प्रवृत्ति और लक्ष्य के अनुसार ही उसमें भावना करवाता है। श्री अरविन्द जी की योग पद्धति की भावना में यह विशेषता है कि इनमें दिव्यता का आरोहण द्वारा ऊंची भूमि में प्राप्त करना और उसका अवरोहण द्वारा निचली भूमि में लाकर निचली शक्तियों तथा निचले बाह्य व्यवहारिक जीवन को दिव्य बनाना होता है। सो यह भावना तो उन सबके लिए जो बाह्य कार्य क्षेत्र में काम करना चाहते हैं अपने बाह्य और व्यवहारिक जीवन को दिव्य और पवित्र बनाने के लिए करनी ही होगी।

१८- पूर्व पक्ष—पातञ्जल योग में जैसा यम, नियम, आसन आदि का उत्तरोत्तर चढ़ता क्रम है वैसा यहां अवरोहण में, मन, उच्च मन, प्रकाशित मन, स्फुरणात्मक मन अधिमानस और फिर अति मानस् (विज्ञान) की चढ़ती सीढ़ियां हैं। इन सीढ़ियों में न केवल आरोहण होता है किन्तु अवरोहण भी।

आरोहण तो पातञ्जल योग में भी है। यह चाहे विज्ञान तक पहुंचता हो, या न पहुंचता हो। पर अवरोहण श्री अरविन्द के योग की विशेषता है, क्योंकि दिव्य रूपान्तर इसी से होता है। यहां केवल आरोहण का अपने आपमें कुछ मूल्य नहीं है, यहां आरोहण अवतरण के लिए है। कुछ न कुछ अवतरण भी आरोहण के साथ साथ अन्य योगों में भी होना चाहिए। किन्तु यह अवतरण यहां काफी नहीं, यहां का अवतरण वह अवतरण है जो बदलने की रूपान्तर की शक्ति रखता है। पातञ्जल योग आदि में जो शान्ति, शक्ति, ज्ञान, प्रेम आनन्द का अवतरण होता है वह मुक्ति के लिए है। पर यहां का अवतरण मुक्ति के ही लिए नहीं किन्तु पूर्णता के लिए है। अवचेतना तक का रूपान्तर तथा पूर्णता के लिए होता है इस भेद को हमें स्मरण रखना चाहिए। (अदिति पृ० ८३)

१८- उत्तर पक्ष—इस सब का निचोड़ दो बातों में है—(१) पातञ्जल योग में केवल दिव्यता का आरोहण होता है। अवरोहण यदि होता भी है तो बहुत कम। किन्तु श्री अरविन्द की योग पद्धति में आरोहण अवतरण के लिए होता है। (२) पातञ्जल योग में दिव्यता आदि का अवतरण मुक्ति के लिए किन्तु श्री अरविन्द की योग पद्धति में दिव्यता आदि का अवतरण मुक्ति के ही लिए नहीं किन्तु पूर्णता के लिए होता है। हमने इस निबन्ध के पहिले भाग में आरोह, अवरोह का क्रम सांख्य योग,

कोशों, अष्टांग योग, और ईश्वर प्रणिधान के प्रकरणों द्वारा विस्तार पूर्वक बतला दिया है। निचली भूमियों की दिव्यता से किसी विशेष ऊंची भूमि के आरोहण में ऊंची भूमियों का दिव्य बनाना होता है। अर्थात् निचली भूमियों की दिव्यता ऊंची भूमियों को दिव्य बनाने में सहायक होती है। फिर अवतरण द्वारा ऊंची भूमियों की दिव्यता से निचली भूमियों को दिव्य बनाया जाता है। वह निचली भूमियों की दिव्यता फिर ऊंची भूमियों की आरोहण में सहायक होती है। इस तरह आरोहण द्वारा निचली भूमियों की दिव्यता से ऊंची भूमियों का दिव्य बनाना और अवतरण द्वारा ऊंची भूमियों की दिव्यता से निचली भूमियों का दिव्य बनना यह क्रम चलता रहता है। इसलिए आरोहण द्वारा ऊंची भूमियों के दिव्य होने के साथ २ अवरोहण द्वारा निचली भूमियों का दिव्य बनना स्वयमेव और स्वाभाविक ही होता है।

श्री अरविन्द की योग पद्धति में अवरोहण द्वारा नीची भूमियों को दिव्य बनाने में विशेष रूप से जोर देने का यही अभिप्राय हो सकता है कि उसका ध्येय निचली भूमियों में कार्यक्षेत्र बनाना और उसके व्यवहार को दिव्य बनाना है। सो पातञ्जल योग ऐसा करने से कब रोकता है। पातञ्जल योग तो आरोहण और अवरोहण द्वारा ऊंची तथा नीची दोनों भूमियों को दिव्य बनाना बतलाता है और उस दिव्यता के साथ ऊंची

अथवा नीची दोनों भूमियों में स्वेच्छानुसार कार्य क्षेत्र चुन लेने की स्वतन्त्रता देता है। मुक्ति से अभिप्राय है तामसी, राजसी मल, विक्षेप का आवरण, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेष क्लेश, और सकाम कर्म अथवा श्री अरविन्द की योग की पद्धति के अनुसार जो बातें दिव्य बनाने में प्रतिबन्धक हों, उनका हट जाना। सो यह तो अवतरण और आरोहण दोनों ही में होता है। हां इस पद्धति का पूर्णता का दावा, इस पद्धति में सांख्य और योग की दृष्टि से क्रियात्मिक रूप से पूरा होना असम्भव है। वह पातञ्जल योग की उच्चतम भूमि में आरोहण के पश्चात् अवरोहण द्वारा ही हो सकता है। पातञ्जल योग के अनुसार श्री अरविन्द की योग पद्धति केवल विचारानुगत समाधि की निचली भूमि और उपनिषदों के अनुसार केवल मनोमय कोश तक आरोहण द्वारा पहुंचती है। उससे दो उच्च भूमियों आनन्दानुगत और अस्मितानुगत समाधि अथवा विज्ञानमय कोश और आनन्दमय कोश की वहां कोई बात नहीं मिलती। इसलिए जितनी दिव्यता विचारानुगत समापत्ति अथवा मनोमय कोश में है उतनी ही दिव्यता वह अवतरण द्वारा ला सकती है। उसी को उसने पूर्णता समझ रखी है। किन्तु पातञ्जल योग तो केवल अस्मितानुगत समाधि अथवा आनन्दमय कोश तक ही आरोहण करके अवतरण द्वारा दिव्य रूपान्तर करना नहीं बतलाता। बल्कि उससे भी परे शुद्ध दिव्य चेतन्य परमात्म स्वरूप ही बन जाना

सिखाता है। इसलिए पूर्णता के लिए अवतरण का दावा सिद्ध करने के लिए इस पद्धति को पातञ्जल योग की उस दिव्यता के शुद्ध स्वरूप में अवस्थित होने तक आरोह करना चाहिए। आरोह की इस अन्तिम सीमा तक पहुंचने के पश्चात् अवतरण होने में पातञ्जल योग किसी प्रकार भी प्रतिबन्धक नहीं होता। (विशेष देखो पहिला भाग)

१६- पूर्व पक्ष—यह सब कार्य सम्पन्न होता है, माता की शक्ति के द्वारा। यहां मन के संकल्प या मन के केन्द्रीय करण (संयम) से उत्पन्न होने वाले बलों का आश्रय लेना भी कोई मुख्य साधन नहीं है, जैसाकि पातञ्जल योग में प्रतीत होता है। यद्यपि वहां भी एक योग शक्ति, मानसिक योगशक्ति काम करने लगती है। पर इस योग में तो साक्षात् उस दिव्यमाता की शक्ति काम करने लगती है जिसका वर्णन श्री अरबिन्द ने अपनी "माता" पुस्तक में किया है।

माता की शक्ति को सञ्चालित करने के लिए साधक को उत्तरोत्तर बढ़ते हुए समर्पण और अभीप्सा की जरूरत होती है। समर्पण तो हृत्पुरुष का स्वाभाविक धर्म है, और अभीप्सा है हृत्पुरुष की पुकार या प्रार्थना।

इनके साथ तीसरी चीज है परित्याग, जिसकी कि साधक को अपने मन-प्राण-शरीर की निम्न विरोधी गतियों को हटाने

के लिए सतत प्रयुक्त करने की जरूरत होती है। यह है हृत्पुरुष के प्रतिकार करने की, हटाने की क्रिया। मानो पातञ्जल योग के अभ्यास और वैराग्य की जगह यहां अभीप्सा और परित्याग है।"
(अदिति पृ० ८४)

१९- उत्तर पक्ष—यहां माता की शक्ति की विशेषता से श्री अरविन्द की योग पद्धति की पूर्णता और पातञ्जल योग की न्यूनता दिखाई गयी है, लेकिन माता क्या है यह नहीं बतलाया गया। अदिति पृष्ठ ७३ में बतलाया गया है "वह अन्तम रूप में विकसित तन्त्र योग से ली गयी है। तान्त्रिक सम्प्रदाय वालों में से बहुतों के पास एक चित्र होता है जिसमें शिवजी को चित्त लेटा हुआ और उनके सीने पर एक भयंकर रूप वाली देवी को जबान निकाले हुए खड़ा हुआ दिखलाया गया है। कोई २ इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं कि जब श्री रामचन्द्र जी महाराज ने रावण पर बिजय प्राप्त करके राजसूय यज्ञ किया तब श्री सीता जी ने उपहास में कहा कि महारावण को जिसको मैंने हाथों से घुमाकर दूसरे द्वीप में फेंक दिया था यदि उसे आप परास्त करलें तब आपका पूर्ण पराक्रम कहा जा सकता है। इस पर श्री रामचन्द्र जी ने उसपर पूरी सेना के साथ आक्रमण किया किन्तु उसे परास्त करने में असमर्थ रहे। इस पर श्री सीता जी भयंकर रूप धारण करके युद्ध क्षेत्र में आईं और महारावण सहित सब राक्षसों का हनन कर दिया। पर उनका यह विनाश

करने का स्वभाव इस उग्रावस्था में पहुंच गया था कि रामचन्द्र जी की सेना में से भी जो कोई उनके समक्ष आता उसे वे मारने के लिये उद्यत होने लगीं। तब शिवजी उनको स्वभाविक सौम्य रूप में लाने के लिये उनके आगे चित्त लेट गये। जब श्री सीता जी उनके सीने पर पैर रख चुकीं तब उन्हें होश आया और जबान निकाल कर आश्चर्य के साथ पश्चाताप करने लगीं। (१) इस पर श्री सीता जी की ही माता रूप में उपासना की जाती है। (२) एक तान्त्रिक सम्प्रदाय के उच्च कोटि के आचार्य ने मुझे बतलाया था कि माता सांख्य योग की प्रकृति का ही विकसित रूप है, (और शिव विमर्षिणि सूत्रों का जो श्री कपिल मुनि प्रणीत तत्त्व समास के सदृश हैं उनका तत्त्व समास के सूत्रों के आधार पर व्याख्या लिखने के लिये कहा था।) यह बात बहुत अंशों में ठीक भी प्रतीत होती है, क्योंकि प्रकृति ही समष्टि ब्रह्माण्ड में कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् द्वारा और व्यष्टि पिण्डों में कारण, सूक्ष्म और स्थूल शरीरों द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शिव रूप पुरुष के लिये ही सारे कार्यों में प्रवृत्त हो रही है। यथा— सांख्य कारिक में—

इत्येष प्रकृति कृतोमहदादि विशेष भूत पर्यन्तः।
प्रति पुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थ इव परार्थ आरम्भः ॥५६॥

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकृति से किया हुआ महत् तत्त्व से

लेकर विशेष भूतों तक का आरम्भ प्रत्येक पुरुष के मोक्ष के लिये स्वार्थ की नांई परार्थ है।

वत्स विवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।
पुरुष विमोक्ष निमित्तं तथा प्रवृत्ति प्रधानस्य ॥५७॥

अर्थ—बछड़े की वृद्धि के निमित्त जिस प्रकार अचेतन दूध की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार पुरुष के मोक्ष के लिए प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्ति होती है।

नाना विधैरुपायैरुपकारिण्यनुपकारिणः पुंसः ।
गुणवत्य गुणस्य सतस्तस्यार्थमपार्थकं चरति ॥
(सां॰ कारिका ६०)

नाना प्रकार के उपायों से यह उपकारिणी, गुणवती (सत्व, रजस्, तमस्, गुणवाली) प्रकृति उस अनुपकारी गुणरहित (गुणातीत) पुरुष के अर्थ निःस्वार्थ काम करती है (जिस प्रकार परोपकारी सज्जन निष्काम भाव से सबका भला करते हैं और प्रत्युपकार की इच्छा नहीं रखते)।

(३) अथवा-त्रिगुणात्मक प्रकृति अपने राजसी तामसी और सात्विक रूप, लक्ष्मी, काली, और सरस्वती देवी में से कोई माता हो सकती है।

(४) अथवा—ईश्वर से अभिन्न उसकी शक्ति अर्थात शक्ति रूप से ईश्वर ही माता हो सकता है। जैसे दृक् शक्ति २।६, स्वामिशक्ति २।२३।। चितिशक्ति ४।३४।।

(५) अथवा—ईश्वर से भिन्न उसकी शक्ति माता हो। उपरोक्त प्रथम तीन प्रकार के रूप में जहां तक मैं समझता हूँ श्री अरविन्द की योग पद्धति में माता को नहीं माना गया है और यदि इनमें से किसी रूप में माना भी गया है तो हम उस पर किसी भी प्रकार की विवेचना नहीं करना चाहेंगे। वह पातञ्जल योग के "यथाभिमत् ध्यानाद्वा" ॥१-३६॥ के अन्तर्गत आ जाती है। यदि चौथे प्रकार से ईश्वर से अभिन्न उसकी शक्ति को माता माना है तो यह तो ईश्वर का स्वरूप ही रहा जैसे चितिशक्ति, स्वामिशक्ति, दृक्शक्ति, द्रष्टा से भिन्न नहीं हैं किन्तु द्रष्टा स्वरूप ही हैं फिर तो यह पातञ्जल योग का ईश्वर ही रहा।

पांचवें प्रकार से यदि ईश्वर से भिन्न उसकी शक्ति को माता माना गया है, तो इस उपासना में ईश्वर और उससे भिन्न उसकी शक्ति रूप माता दो आकार वाली वृत्ति होती है। और इस दो आकार वाली वृत्ति से ठीक धारणा नहीं बन सकेगी। इन सब बातों को छोड़ कर ईश्वर से भिन्न उसकी शक्ति को माता मान भी लिया जाय तो माता की शक्ति क्या चीज रही। यह भी माता से भिन्न उसकी शक्ति रूप एक माता होगी फिर उस माता से

भिन्न उसकी शक्ति रूप एक और माता होगी। इस प्रकार अनवस्था दोष आता है। इसलिए माता की शक्ति की पातञ्जल योग पर विशेषता दिखला कर श्री अरविन्द की योग पद्धति अपने को उच्च सिद्ध नहीं करती है।

श्री अरविन्द जी महाराज इस समय संसार के एक महान् पुरुष हैं जिन पर न केवल हिन्दुओं को किन्तु सारे भारतवासियों को गौरव है। मेरी उनके प्रति हार्दिक श्रद्धा और आदर है। फरवरी सन् १९४३ में लगभग एक मास उनके आश्रम में रहकर उनके दर्शन तथा आश्रम के पवित्र व्यवहारिक और मानसिक वातावरण तथा आध्यात्मिक जीवन से लाभ प्राप्त किया है। और भविष्य में भी ऐसे अवसर मिलने को सौभाग्य समझता हूँ। श्रीमान आचार्य जी श्री स्वामी अभय देव जी से भी मेरा घनिष्ठ प्रेम का सम्बन्ध है। इस निबन्ध को केवल पातञ्जल योग के वास्तविक स्वरूप को दर्शाने और उस पर किए गए आक्षेपों के निवारणार्थ तथा जो आघात श्री पतञ्जलि मुनि और उनके दर्शन की न्यूनता दिखलाई जाने से न केवल परम्परा से श्री पतञ्जलि मुनि को योग का गुरु और उनके दर्शन को व्यापक रूप में योग का मार्ग मानने वालों को बल्कि सनातन धर्मी, आर्यसमाजी आदि सभी विचार के हिन्दुओं के दिलों को पहुंच सकते हैं उसके मिटाने के लिये लिखा गया है। योग मार्ग पर चलने वाले

सभी सम्प्रदाय और पद्धतियों वाले परस्पर ऐसे सन्मान और आदर का भाव उपस्थित करें जिससे हिन्दुओं में एक दूसरे को नीचा छोटा और अपूर्ण बतलाकर अपने ऊंचा, बड़ा सच्चा और पूर्ण सिद्ध करने की भावना जो सदियों से उनके सामाजिक, धार्मिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक जीवन के पतन का कारण हुई है और हो रही है, दूर हो और वे परस्पर प्रेम और भ्रातृ भाव और समानता से रहना सीखें।

भूल सुधार सूची

पृष्ठ	पंक्ति	भूल	सुधार
१	५	के	की
३	१२	त्रिगुणात्मिक	त्रिगुणात्मक
५	१२	औपाधि	उपाधि
७	२१	त्यतिएठ	अत्यतिष्ठद्
८	१२	थेर	घेर
,,	,,	अंगल	अगुल
,,	१५	पुरुषाः	पुरुषः
१२	२	निष्क्रय	निष्क्रिय
,,	१८	विरोध	निरोध
१३	५	जा	जो
१४	६	तन्मं	तन्त्रं
,,	१४	ति	र्ति
१८	१७	(२४८, ४६)	(२/४६, ४६)
१६	१	समापक्ति	समाधि
,,	२	सब	सब से
,,	२	अस्मितां	अस्मिता
,,	१५	जड, चित	जड़ चित्त
२०	१	कारण	करण
२४	१६	को	का
२५	१, २	अाम्यन्तर	आभ्यन्तर

पृष्ठ	पंक्ति	भूल	सुधार
२५	११	रजो, तमो	रजोगुण, तमोगुण
२६	१	तमो, रजो	तमोगुण, रजोगुण
,,	३	का	को
,,	५	रजो	तमोगुण और रजोगुण
,,	१०	वले	वाले
,,	,,	रजो	रजोगुण
,,	११	तमो	तमोगुण
,,	१६	अवछिन्नता	अवच्छिन्नता
,,	१७	रजो	रजोगुण
,,	,,	तमो	तमोगुण
,,	१६	रजो और तमो	रजोगुण और तमोगुण
२७	६	सधन	साधन
२८	१०	यां०	पा०
,,	१४	अभिरूचि	अभिरुचि
,,	१६	जागृन	जागृत
२६	१७	शय,	शय
२६	१६	गुरू	गुरु
३५	१०,११,१६	जात्यान्तर	जात्यन्तर
३६	१, ५	,,	,,
३६	११	भूत	(भूत)
३७	७	जात्यान्तर	जात्यन्तर
३८	६	पातञ्जलि	पतञ्जलि

पृष्ठ	पंक्ति	भूल	सुधार
४२	११	एकाग्रनस्था	एकाग्रावस्था
,,	१६	प्रवृति	प्रवृत्ति
४३	११	बिक्षिप्त	विक्षिप्त
,,	१४	अभाव	प्रभाव
४४	३	पकाग्रता	एकाग्रता
,,	६	निरूद्धावस्था	निरुद्धावस्था
,,	१०	सब	सत्र
४५	१३	भूमियों	भूमियां
४६	१	अध्यात्मिकता	आध्यात्मिकता
,,	२, ७	लक्षण	लक्ष्य
४७	८	स्वभाविक	स्वाभाविक
४८	१३	,,	,,
,,	१५	सम्प्रज्ञात	सम्प्रज्ञात
,,	१६	हो जाता	हो जाता)
५१	६	ग्राह्येषु	ग्राह्ये षु
,,	११	की	का
५२	१४	भाग	भाग के
५४	१६	समन्वं	समत्वं
५६	७	योगामिति	योगमिति
,,	७	धारणम्	धारणाम्
५७	४	भिभव	रभिभव
५८	५, १५	या	यो

पृष्ठ	पंक्ति	भूल	सुधार
५६	४, ६	द्दष्टुः	द्रष्टुः
,,	६	द्दष्टः	द्रष्टा
,,	१७	प्रतिष्ठां	प्रतिष्ठा
६०	१७	के	×
६५	१०	का	को
,,	१७	चेतन्य	चैतन्य
६६	६	वोह्य	बाह्य
६७	१६	स्युस्टेसत्या	स्युष्टेसत्या
६८	२	सत्व	सत्य
,,	१८	तस्मैवादं	तस्मैवाहं
,,	२०	तवैवादं	तवैवाहं
,,	२१	त्वमेवादं	त्वमेवाहं
७४	१६	स्व	स्वयं ही
७५	१	का	को
,,	२	इसको	×
७८	१६	व्यवहारिक	व्यावहारिक
८०	३	का	को
८१	१७	रखी	रखा
८४	३	स्वभाविक	स्वाभाविक
,,	७	पर	प्रकार
८७	६	व्यवहारिक	व्यावहारिक
८८	३	छोटा	छोटा, झूठा,

पुस्तक प्राप्ति स्थान—

१—पातंजल योग आश्रम रहलू जिला कांगड़ा ।

२—बा० जैशीराम एडवोकेट मंत्री पातञ्जल योगाश्रम धर्मशाला जिला कांगड़ा ।

३—पं० रेवानन्द जी मोहन आश्रम हरिद्वार ।

४—पं० राम रक्खामल जी गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

५—प्रदीप प्रेस मुरादाबाद ।

६—आर्य साहित्य मंडल अजमेर ।

७—बा० चांद मल जी चंडक वैदिक प्रेस केसरगंज अजमेर ।

८—पं० वजीरचन्द शर्मा वैदिक पुस्तकालय, मोहनलाल रोड लाहौर ।

९—आर्य सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा, महात्मा हंसराज रोड लाहौर ।

१०—किशोर प्रेस बरेली ।

११—गोविन्दराम हासानंद आर्य साहित्य भंडार नई सड़क देहली ।

१२—पं० मेहरचन्द शर्मा आर्यवीर पुस्तकालय मोहनलाल रोड लाहौर ।

१३—मैनेजर प्रेमी प्रेस मेरठ शहर ।

❀ पातञ्जल योग प्रदीप ❀

—भारतीय दर्शन शास्त्र का अपूर्व स्पष्टीकरण—

-एक अभ्यासी साधु के अनुभवों का अनूठा समष्टिकरण-

—साधक-मुमुक्षुओं के लिये अनुपम ग्रंथ—

इस ग्रंथ के सम्बन्ध में श्री स्वामी अभयदेव जी, भूतपूर्व आचार्य गुरुकुल कांगड़ी ने निम्नलिखित सम्मति दी है:—

श्री स्वामी ओमानंद जी महाराज की लिखी पातञ्जल योगप्रदीप पुस्तक पढ़ कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। स्वामीजी महाराज ने इसमें न केवल पातञ्जल योग सूत्रों की सुबोध सुन्दर और विस्तृत व्याख्या की है, जिस व्याख्या में व्यासभाष्य, भोज वृत्ति आदि तो आ ही गई है, किन्तु स्थान २ पर अपने अनुभव सहित और भी जानने योग्य बातों का जो समावेश उन्होंने कर दिया है उससे यह पुस्तक और भी उपयोगी हो गई है। हिन्दी में योगदर्शन पढ़ना चाहने वालों को अब मैं यही पुस्तक पढ़ने की सिफारिश करता हूँ। क्योंकि इस विषय में इससे अच्छी पुस्तक मैंने और कोई नहीं देखी है।

* षड् दर्शन समन्वय *

—छहों दर्शनों का समझा सुलझा सार—

—सबके परस्पर भेद में अभेद और अविरोध—

मू० केवल आठ आना

* योग सार *

—योग दर्शन के सुबोध अर्थ सहित मूलसूत्र—

मू० केवल दो आना

वि + उत् + स्थान